॥ श्रीहरिः ॥

355▲

महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

(लोक-परलोकका सुधार—भाग-३)

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

लोक-परलोकका सुधार—भाग ३

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-के व्यक्तिगत पत्रोंका यह तीसरा संग्रह 'महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर [लोक-परलोकका सुधार तृतीय भाग]' के नामसे कल्याणकामी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। पहले दो भागोंका प्रकाशन कई वर्ष पूर्व हुआ था। तबसे और भी अनेक उपयोगी पत्र उनके द्वारा लिखे गये और उनमेंसे थोड़े-से समय-समयपर कल्याणमें प्रकाशित होते रहे। उन्हींमेंसे कुछ चुने हुए पत्रोंका समावेश इस संग्रहमें किया गया है। पहले दो भागोंका जनताने आदर किया और उनसे लाभ उठाया, इसीसे यह तीसरा भाग प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत संग्रहमें कई नवीन विषयोंका समावेश हुआ है, जिससे पुस्तककी उपादेयता बढ़ गयी है। तात्त्विक विषयोंके साथ-साथ साधनाके मार्गमें आनेवाले अनेक व्यावहारिक प्रश्नोंका इनमें बड़े ही मार्मिक एवं सुन्दर ढंगसे समाधान किया गया है। साधनामें कौन-कौन-सी बातें सहायक हैं तथा कौन-सी बाधक हैं, इसे बड़ी विशद रीतिसे समझाया गया है। साथ ही वर्तमान राजनीति और सुधारवादके दोषोंकी यथार्थ समीक्षा करते हुए दुराचार-भ्रष्टाचार, जनसंख्याकी वृद्धि तथा अन्नकी कमीको दूर करनेके उपायोंपर बड़ी ही दूरदर्शिताके साथ विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त विवाह-विच्छेद आदि धर्मशास्त्रविरोधी सामाजिक प्रश्नों तथा नारी-जातिकी कतिपय समस्याओंपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आशा है, लेखकके प्रौढ़, परिष्कृत, तपःपूत एवं अनुभवपूर्ण विचारोंसे पाठक यथेष्ट लाभ उठायेंगे।

इन पंक्तियोंके लेखकका ऐसा विश्वास है कि जो लोग इन पत्रोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे तथा उनमें कही हुई बातोंको अपने जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करेंगे, उनके लोक-परलोकका निश्चय ही सुधार होगा और वे पारमार्थिक जीवनमें अपनेको बड़ी तीव्र गतिसे अग्रसर होता हुआ देखेंगे। वर्तमान नास्तिक युगमें इस प्रकारके आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत, भगवद्विश्वाससे छलकते हुए एवं जगत्की सच्ची हितकामनासे तड़पते हुए विचार बहुत कम देखने-सुननेको मिलेंगे। किमधिकं विज्ञेषु—

विनीत—

चिम्मनलाल गोस्वामी

(एम० ए०, शास्त्री)

गोरखपुर
आश्विन शुक्ल १० (विजयादशमी)
सं० २००८ वि०

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

इन पत्रोंके कुछ चुने हुए विषय

॥ श्रीहरिः ॥

महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

(कामके पत्र)

(तृतीय भाग)

(१)

आत्मा और ईश्वर

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपके पत्रका उत्तर आज दिया जा रहा है। इतने दिनोंतक अन्यान्य कर्मोंमें व्यस्त रहनेके कारण इधर ध्यान देनेका समय नहीं मिला। कृपया विलम्बके लिये क्षमा करेंगे। आपके तीनों प्रश्नोंपर क्रमशः विचार किया जा रहा है—

(१) प्रश्न—कहा जाता है आत्मा अनादि तथा अनन्त है। फिर जो आज संसारकी जनगणना दूने-चौगुने वेगसे बढ़ रही है, इसमें क्या कारण है? ये शेष आत्माएँ कहाँसे आयीं? यदि कहा जाय कि अन्य योनियोंसे तो यह केवल अनुमानमात्र (जो कि गलत भी हो सकता है) ही है अथवा इसमें दूसरा भी प्रमाण है?

उत्तर—'आत्मा' शब्दसे आपका क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं हो पाया है। हिन्दू-दर्शनोंमें इसका प्रयोग अनेक अर्थोंमें आया है। यह आत्मा शुद्ध चेतन परमात्माका भी वाचक है। यदि इसी अर्थमें आपने प्रयोग किया है तब तो वह जैसे अनादि और अनन्त है वैसे ही अजन्मा और अद्वितीय भी है। उसका न जन्म होता है और न वह एकसे कभी दूसरा हुआ। वह तो नित्य एक और सर्वव्यापी है।

आत्माके विषयमें प्रमाणोंकी कमी नहीं है। समस्त हिन्दू-दर्शन आत्माके स्वरूपका ही विश्लेषण करते हैं। यदि आपकी रुचि हो तो उपनिषदोंका तथा उनमें भी कठोपनिषद्का विशेषरूपसे स्वाध्याय कीजिये। यदि आत्माका अर्थ आप 'जीव' मानते हैं तो यह शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है। बन्धनावस्थामें उसे 'जीव' संज्ञा प्राप्त होती है। यह बन्धन अनादि होनेपर भी अनन्त नहीं है, उसका अन्त होता है। ज्ञानसे अज्ञानरूप बन्धनका नाश होनेपर मुक्तावस्थामें जीवभाव नहीं रहता; फिर तो शुद्ध सच्चिदानन्दमय आत्मा ही कहलाता है। यदि आपका संकेत न्याय-वैशेषिक मतमें माने हुए अणु परिणाम, नित्य, अनेक जीवात्माकी ओर है तब वहाँ अनन्तका अर्थ असंख्य किया जा सकता है। उस दशामें भी जनगणना बढ़नेमें कोई आपत्ति नहीं आती। जब असंख्य जीव हैं और असंख्य विभिन्न लोकोंमें अज्ञात योनियों तथा स्थानोंमें रहते हैं, तब एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तथा एक योनिसे दूसरी योनिमें उनका आना-जाना नितान्त स्वाभाविक है। फिर उसे केवल अनुमानमात्र कहकर उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। अनुमान एक विश्वसनीय प्रमाण है। न्याय-वैशेषिक मतमें उसका बड़ा आदर है। उसके बारेमें ऐसा कहना ठीक नहीं कि वह गलत भी हो सकता है। वह केवल कल्पना नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध हेतुके बलपर अनुमान किया जाता है। धुआँ देखकर अग्निका अनुमान होता है। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है। इसी प्रकार जहाँ अनुकूल तर्क एवं निर्दोष हेतुके द्वारा अनुमान होता है वह कभी असत्य या गलत नहीं हो सकता। हमारे देखनेमें आनेवाले संसारकी जनगणना जिस वेगसे बढ़ रही है, उसी

वेगसे सम्भव है अन्य लोकोंमें घट रही हो। फिर नरसंहार भी तो हो रहा है। यूरोपमें कई वर्षोंतक तो लगातार युद्ध चल रहा था उसमें कितना नरसंहार हुआ। स्वाभाविक मृत्युसे जो लोग मरते हैं उनकी संख्या अलग है।

(२) **प्रश्न**—ईश्वरका स्वरूप क्या है? तथा वह प्राणिजगत्से किस प्रकार सम्बन्ध रखता है। आज जबकि चारों ओर मेटेरियेलिज्म (जडवाद) तथा नेचर (प्रकृति)-के ठोस प्रमाण मौजूद किये जा रहे हैं, ईश्वरकी सत्ता किस प्रकार मानी जाय?

उत्तर—ईश्वरके स्वरूप तथा उसके प्राणिजगत्से सम्बन्धपर प्रकाश डालते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८।६१)

अर्थात् 'ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान है तथा शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए उन सब प्राणियोंको वह अपनी मायासे घुमाता रहता है।'

सारांश यह कि ईश्वर घट-घटवासी, अन्तर्यामी, कर्मफलोंका दाता तथा सम्पूर्ण भूतोंका नियामक है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। शास्त्रोंमें ईश्वरको '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**' कहा है। अर्थात् वह करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें भी समर्थ है। वह ज्ञान और आनन्दका अक्षय भण्डार है। जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार सब उसीके द्वारा होते हैं। वह सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, अस्ति, भाति, प्रिय, सत्, चित्, आनन्द सब कुछ है। सर्वस्वरूप होते हुए भी सबसे विलक्षण है। वह क्या है और क्या नहीं है इसका

वर्णन नहीं हो सकता। उसका स्वरूप जाननेमें ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं। मन और वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है। वेद भी '**नेति-नेति**' कहकर उसकी ओर संकेतमात्र करता है। उसके स्वरूपको '**इदमित्थम्**' रूपसे वह प्रतिपादन नहीं कर सकता। वह अज्ञेय, अप्रमेय और अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार वह हमारी पहुँचसे दूर होकर भी सदा हम सबमें रम रहा है। हम उसकी गोदमें हैं। वह हमारा लालन-पालन करनेवाला पिता है। हमें ज्ञान, सुख तथा प्रेम उसीसे प्राप्त होते हैं। सखा, सुहृद् एवं सहायक भी वही है। हमसे दूर इतना है जहाँ पहुँच नहीं सकते, और हमसे निकट इतना है जहाँतक उसके सिवा दूसरेका पहुँचना असम्भव है। सब तथा सब रूपोंमें वही तो है। जिसको उसने आँखें दी हैं, उसे उसके सिवा कहीं भी और कुछ नहीं दिखायी देता। आँखें तो उसने सभीको दे रखी हैं पर कुछ लोग उनको बन्द रखते हैं जिससे उसके प्रकाशका दर्शन नहीं होता। ठीक उसी तरह जैसे उलूकको नेत्र बन्द रखनेके कारण सूर्यके प्रकाशका दर्शन नहीं हो पाता।

गोस्वामी तुलसीदासजीने ईश्वरकी सत्ता और महत्ताका वर्णन इस प्रकार किया है—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

'**द्वा सुपर्णा सयुजा**' इस मन्त्रके द्वारा श्रुतिने जीव और

ईश्वरके सख्य-सम्बन्धका प्रतिपादन किया है। एक दूसरी श्रुतिमें यह भी कहा है कि परमात्मा जिसे स्वयं ही प्रेमवश अपनाता है उसीके सामने अपने रहस्यको व्यक्त करता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठ० १। २। २३)

इससे मधुर प्रेमसम्बन्धकी सूचना मिलती है। ईश्वर सबका कर्ता, धर्ता, संहर्ता और पालन-पोषण करनेवाला है। इस बातको बतानेवाली बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में अन्तर्यामी परमात्माके स्वरूप और कार्यका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। (बृहदारण्यक० ३। ७। १५)

अर्थात् 'जो सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहकर उन सबकी अपेक्षा आन्तरिक है; जिसे सम्पूर्ण प्राणी नहीं जानते, सम्पूर्ण प्राणी जिसके शरीर हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंका उनके भीतर रहकर शासन (नियमन) करता है, वह तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा है। वह अमृत है।'

केनोपनिषद्में अनेक मन्त्रोंद्वारा यह बात बतायी गयी है कि ईश्वर ही हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें शक्ति और प्रकाश दे रहा है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो हि वाक् स उ प्राणस्य प्राणः।

'वही कानोंकी श्रवणशक्ति, मनकी मननशक्ति, वाणीकी वाक्शक्ति और प्राणकी जीवनशक्ति है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।

'जिसका मनके द्वारा मनन नहीं हो सकता, जिसकी शक्ति पाकर ही मन मननशक्तिसे सम्पन्न हुआ है वही ब्रह्म समझो।'

यहाँतक ईश्वरकी सत्ता, महत्ता, स्वरूप तथा सम्बन्धके विषयमें कुछ थोड़े-से शास्त्रीय प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया गया। तर्क और युक्तिके द्वारा विचार करनेसे भी ईश्वरकी सत्ता प्रत्यक्षवत् सिद्ध हो जाती है।

हम यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि हमारा ज्ञान, हमारी शक्ति और हमारी विद्या सब थोड़ी है; किन्तु हम सदा उसे बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं। प्रत्येक स्वल्पता महत्ताकी ओर अग्रसर होती है। स्वल्पता ही महत्ताकी सत्ता सिद्ध करती है।

जीवमें अल्पशक्ति है, तो कहीं पूर्ण या सर्वशक्ति भी होगी ही। जहाँ होगी, वही सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द तथा पूर्ण विद्याके भण्डार ईश्वरका होना निश्चित है। नदीकी सीमित जलधारा अक्षय और अनन्त जलके भण्डार समुद्रकी ओर अग्रसर होती है। इसी प्रकार सीमित ज्ञान, शक्ति और विद्यावाला जीव असीम आनन्दके सागर परमात्मामें मिलकर पूर्णतम होनेके लिये सदा यत्नशील रहता है। यह प्रयत्न ही उसकी साधना है। जबतक उसे सिद्धि नहीं मिलती तभीतक वह बद्ध या अमुक्त कहलाता है। सिद्धिकी अवस्था आयी कि वह ससीमसे असीम, बद्धसे मुक्त हुआ। यद्यपि यह अवस्था कहींसे उपलब्ध नहीं होती, वह नित्यसिद्ध सहजावस्था है तथापि जबतक उसका प्रकाश नहीं हुआ रहता तबतक उसे व्यवहारमें अप्राप्त या अनुपलब्ध कहते हैं।

कार्य-कारणभावसे भी हम ईश्वरको जान सकते हैं। बालूके दूहे अथवा पर्वतोंकी श्रेणियोंको हम केवल प्रकृतिका कार्य मान भी लें तो भी किसी सुन्दर महलको हम केवल प्रकृतिका कार्य नहीं मान सकते। उसमें उपादानमात्र प्रकृति है। निमित्त कारण तो कोई चतुर कारीगर ही है। इसी प्रकार इस शरीररूपी महलको, जिसमें सभी अवयवोंकी उपयोगिता सोचकर विशेष उद्देश्यसे उनका निर्माण किया गया है, किसी चेतन परमात्माका ही कार्य कह सकते हैं। इस विशाल ब्रह्माण्डका निर्माता भगवान्‌के सिवा और कौन हो सकता है। सुन्दर और कलापूर्ण सृष्टि प्राकृत तत्त्वोंके आकस्मिक संयोगमात्रसे नहीं हो सकती। उसमें किसी कलाकारका हाथ मानना ही पड़ेगा। क्या कोई कह सकता है कि बिना कुम्हार और बढ़ईका हाथ लगे ही घड़े और तरह-तरहके फर्नीचर बन गये हैं। प्रकृति केवल मिट्टी और पेड़का उत्पादन कर सकती है। कुर्सी, मेज और घड़े नहीं बना सकती। ज्ञान, विवेक और विचारपूर्ण कार्य जड प्रकृतिसे असम्भव है। प्रकृति कारणमात्र है। कर्ता उससे पृथक् और विलक्षण है। यदि स्याही ढलक जाय तो वहाँ काला धब्बा बन जायगा, अक्षर और वाक्य नहीं बन जायँगे। वे तो किसी चेतन कर्ताके बुद्धिपूर्वक लिखनेसे ही लिखे जा सकते हैं।

जड विज्ञानकी यही सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह कार्य-कारण-सम्बन्धको तो मानता है; किन्तु उपादान और भेदके निमित्तको नहीं समझ पाता। कार्यका कोई लक्ष्य और उद्देश्य नहीं मानता। परन्तु हम देखते हैं कि कार्यके पहले मनमें इच्छा उत्पन्न होती है, हम कार्यके लक्ष्य और उद्देश्यपर विचार करके उसमें प्रवृत्त होते हैं। '**प्रयोजनमनुद्दिश्य न**

मन्दोऽपि प्रवर्तते।' बिना प्रयोजनके मूर्ख भी किसी काममें नहीं लगता। इस प्रकार प्रत्येक प्राकृत कार्यमें किसीकी इच्छा-शक्ति, संकल्प, उद्देश्य और लक्ष्यका विचार अवश्य है। इतना स्वीकार कर लेनेपर अनीश्वरवादकी जड़ स्वयं कट जाती है।

पत्र कुछ बढ़ गया। फिर भी सभी बातें, जो यहाँ कही जा सकती हैं, नहीं आ सकी हैं। आ भी नहीं सकतीं। यह वस्तु तो बहुत समयतक अध्ययन और मनन करनेकी है। यदि इससे आपको कुछ सन्तोष हो सके तो प्रसन्नताकी बात है।

(३) आपने जिस प्रकारके योगी-महात्माका पता मुझसे पूछा है, वह मुझे मालूम नहीं है। फिर भी भारतवर्षमें ऐसे योगी-महात्मा या पहुँचे हुए सन्तका सर्वथा अभाव नहीं है। अधिकारियोंको उनके दर्शन भगवत्कृपासे हो ही जाते हैं।

आपने कुछ ऐसी पुस्तकोंका नाम भी पूछा था जिनसे ईश्वर-सम्बन्धी विचारपर कुछ प्रकाश पड़े। इसके लिये मैं आपको श्रीमद्भगवद्गीता, रामचरितमानस और उपनिषद् पढ़नेकी सलाह दूँगा। 'कल्याण' का ईश्वरांक भी मिल सके तो अवश्य पढ़ें।

शेष सब श्रीहरिकी कृपा है। उत्तरमें विलम्बके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना है।

(२)

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने अद्वैत-वेदान्तानुसार ब्रह्म और जगत्‌का स्वरूप, विवर्त्तका भावार्थ, जीवन्मुक्तिका स्वरूप तथा जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिके भेदके सम्बन्धमें पूछा सो आपकी कृपा है। ब्रह्मका स्वरूप अनिर्वचनीय है, वाणीसे उसका वर्णन नहीं हो सकता तथापि आपके अनुरोधवश शास्त्र तथा सन्तोंसे सुने हुए वचनोंके आधारपर संक्षेपमें कुछ लिखनेका प्रयास करता हूँ। वस्तुतः यह विषयसाधन सापेक्ष है और अधिकारी पुरुष ही इसे समझ और समझा सकते हैं। जो नित्य सत्य चिदानन्द-स्वरूप है; जो सर्वथा अबाध्य और अद्वितीय है; जिसमें सजातीय, विजातीय या स्वगत कोई भेद नहीं है; जो भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चारों अवस्थाओंमें सम और एकरूप है; जो सबका आश्रय, ज्ञाता, प्रकाशक और आधार है—वह एक नित्य सत् चेतन पदार्थ ब्रह्म है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि कहकर श्रुतियोंने उसीका संकेत किया है और उसीकी प्राप्तिमें मानवजीवनकी चूडान्त सफलता मानी गयी है।

वेदान्तके सिद्धान्तानुसार यह ब्रह्म एकमात्र सत्य है और जगत् असत् है। जगत्-रूपसे प्रतीत होनेवाला जो कुछ है सो मायाका विलासमात्र है। निर्विशेष निर्विकार एकमात्र चैतन्यघन ब्रह्म ही अघटनघटनापटीयसी मायाके प्रभावसे सविशेष विकारी और अनेक रूपोंमें दिखायी पड़ता है। मैं-तुम, मेरा-तेरा, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-पर्वत, देव-असुर आदि अपार

दृश्यमान समस्त प्रपंच मायाका ही विस्तार है, इस मायाके वशमें होकर ही जीव बद्धदशाको प्राप्त है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीलक्ष्मणजीसे कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

ब्रह्ममें जगत् वैसे ही कल्पित है जैसे रस्सीमें सर्प; रस्सीसम्बन्धी अज्ञानके कारण जैसे रस्सी ही सर्पकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका आधार है, ठीक वैसे ही ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञानके प्रभावसे ब्रह्मरूप अधारमें ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है। इस मिथ्या प्रतीतिका नाम ही 'विवर्त्त' है। '**अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः।**' वस्तुके स्वरूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन न होकर उसकी दूसरे रूपमें प्रतीति हो, इसे 'विवर्त्त' कहते हैं। ब्रह्म जगत्-रूपमें परिवर्तित नहीं होता, मायाके प्रभावसे ब्रह्ममें जगत्की भ्रान्ति प्रतीति होती है, जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने ही संकल्पसे स्वप्न-जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय देखता है, वस्तुतः वह सब कुछ उसी स्वप्नद्रष्टा पुरुषमें उसीसे और उसीको दीखता है, अन्य कुछ भी नहीं है, वही एकमात्र उसका आश्रय और 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' है वैसे ही यह जगत् भी जगद्द्रष्टा ब्रह्ममें दीखता है। वस्तुतः उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। निद्राके प्रभावसे जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने एकमें ही अनेककी कल्पना करता है वैसे ही अज्ञानके प्रभावसे ब्रह्म ही जीवरूपसे अपने एकमात्र स्वरूपमें अनेककी कल्पना करता है। जैसे मरुभूमिमें वास्तविक जल न होनेपर भी जलकी तथा सीपमें वस्तुतः चाँदी न होनेपर भी चाँदीकी भ्रान्ति होती है; वैसे ही अद्वितीय ब्रह्ममें

अज्ञानवश जगत्‌की प्रतीति होती है। तत्त्वतः जगत् नहीं है—एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ-सत्य है। परन्तु अज्ञानके कारण चेतन जीवको जगत्‌की सत्-प्रतीति होती है और इसीसे वह बन्धनमें जकड़ा हुआ है। यह बन्धन अनादि है; क्योंकि माया भी अनादि है। वस्तुतः स्वभावसे तो यथार्थरूपमें जीव भी मुक्त ही है।

तो फिर जीवकी मुक्ति या ब्रह्मकी प्राप्तिसे क्या तात्पर्य है? वह तात्पर्य इतना ही है कि जीवको जो ब्रह्मसे पृथक्त्व एवं बद्धताका भ्रम हो रहा है, सद्‌गुरु, शास्त्र और भगवत्कृपासे साधन करनेपर इस भ्रमका मिट जाना और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाना ही उसकी मुक्ति या उसे ब्रह्मकी प्राप्ति होना है। जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति होती नहीं, वह तो ब्रह्मस्वरूप ही है, उसे तो स्वरूपतः नित्य ही ब्रह्म प्राप्त है। इस नित्य प्राप्तिमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उसको मिटा देना है। इस भ्रमका मिट जाना ही ब्रह्मकी प्राप्ति है। जैसे कोई राजकुमार प्रारब्धवश जन्मकालमें ही मातासे बिछुड़कर साधारण ग्रामीण लोगोंमें पले और अपने राजकुमारत्वको भूलकर अपनेको साधारण ग्रामीण मानता रहे, पर जब उसे किसी जानकारके बतानेसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो तब वह अपनेको राजकुमार समझे—यद्यपि वह था तो पहले भी राजकुमार ही। इसी प्रकार अज्ञान नाश होनेपर जो स्व-स्वरूपका प्रकाश होता है, उसीको मुक्ति कहते हैं।

मायाशक्ति परमेश्वरका स्वभाव है। स्वभाववश जो कुछ होता है 'उसमें वह क्यों हुआ?' यह प्रश्न ही नहीं होता। स्वभावमें किसी दूसरे प्रयोजनकी कल्पना नहीं होती। इसी प्रकार मायाशक्ति सृष्टिकर्ता परमेश्वरका स्वभाव होनेसे—बस,

स्वाभाविक ही जगत्‌का प्रकाश होता है। इसीलिये भगवान् व्यासने ब्रह्मसूत्रमें '**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' कहकर इस जगत्‌के निर्माणकी मीमांसा की है।

विचार (नित्यानित्यवस्तुविवेक), वैराग्य (इस लोक और परलोकके दृष्ट-अदृष्ट समस्त भोगोंसे विरति), षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) एवं मुमुक्षुत्व (संसार-बन्धनसे छूटनेकी अत्यन्त तीव्र इच्छा)—इस साधनचतुष्टयसे सम्पन्न अधिकारी पुरुष जब शास्त्र, गुरु और भगवत्कृपासे जीवित दशामें ही ब्रह्मके सत्-स्वरूपको, जगत्‌के असत्-स्वरूपको तथा जीवके परमार्थतः ब्रह्म-स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे जान लेता है एवं समस्त दृश्यप्रपंचको '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**', '**वासुदेवः सर्वमिति**' आदि श्रुति-स्मृतियोंके वचनानुसार ब्रह्मस्वरूप अनुभव करके योगारूढ़-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकात्मताका प्रत्यक्ष अनुभव कर पाता है, तब उस पुरुषको 'जीवन्मुक्त' कहते हैं।

ऐसी अवस्थामें उसके समस्त कर्मबन्धन कट जाते हैं—आग लग जानेपर जैसे समस्त संगृहीत द्रव्य जलकर खाक हो जाते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषकी ज्ञानाग्निके द्वारा उसकी सम्पूर्ण कर्मराशि जलकर भस्म हो जाती है। '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा**' (गीता ४। ३७)।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

अर्थात् उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जड-चेतनकी एकात्मतारूप हृदयकी गाँठ टूट जाती है। जड

देहादिमें होनेवाले आत्माभिमान तथा समस्त संशयोंका नाश हो जाता है और सम्पूर्ण कर्म कर्मबीजसहित नष्ट हो जाते हैं। इस श्रुतिवाक्यके अनुसार उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। संचित कर्म (पूर्वकृत संगृहीत कर्मराशि) गोदाममें आग लग जानेपर गोदाममें संगृहीत वस्तुओंकी भाँति जल जाते हैं; क्रियमाण (नवीन कर्म) भुने हुए बीजोंकी भाँति कर्मसंस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते और प्रारब्ध (इस जीवनमें भोगके लिये अपना कार्य आरम्भ कर चुके हुए) कर्म भी शरीरमें अहंता और भोगोंमें भोक्तापनकी सत्ता न रहनेसे जीवन्मुक्त पुरुषको कोई सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकते। इस प्रकार तीनों प्रकारके कर्मोंसे मुक्त पुरुष ही 'जीवन्मुक्त' है। यह जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें संसारके सुख-दुःखसे वैसे ही अलिप्त रहता है जैसे जलमें कमल।

प्रारब्धकर्मके शेष रहनेतक देहपात नहीं होता, इसीसे वह 'जीवन्मुक्त' है और प्रारब्ध क्षय होनेपर देहपात होते ही वह ब्रह्ममें मिल जाता है, अज्ञानजनित कर्मबीज न रहनेसे उसका सूक्ष्म और कारणदेह नष्ट हो जाता है और उसके प्राण कहीं उत्क्रमण नहीं करके वहीं अपने तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं। इससे उसको 'विदेहमुक्त' कहते हैं।

स्वरूपतः '**जीवन्मुक्ति**' और '**विदेहमुक्ति**' में कोई भेद नहीं है। वह जीवन्मुक्ति वस्तुतः मुक्ति ही नहीं है, जिसमें कुछ करना शेष रह जाता हो। जैसे तरंगोंसे लहराता हुआ जल भी जल है और तरंगहीन स्थिर जल भी जल है, वैसे ही संसारमें कर्म करके दीख पड़नेवाला 'जीवन्मुक्त' पुरुष भी मुक्त है और देहपात होनेपर संसारसे सर्वथा रहित 'विदेहमुक्त' पुरुष भी मुक्त ही है।

यह जगत्के जीवोंका बड़ा सौभाग्य है कि प्रारब्ध शेष होनेके कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंका लोकदृष्टिमें जगत्में रहना होता है। उनके रहनेमात्रसे ही जगत्का अशेष उपकार होता है और जो सौभाग्यशाली लोग श्रद्धापूर्वक उनके शरीरोंका दर्शन, स्पर्श और उनके साथ सम्भाषणादि कर पाते हैं, वे तो साधन करनेपर बहुत ही सुगमतासे कर्मबन्धनको काटनेमें समर्थ होते हैं।

पर 'ब्रह्म' ही भगवान्का एकमात्र स्वरूप नहीं है तथा कर्मबन्धन काटकर पारमार्थिक नित्य आनन्दकी उपलब्धिका मार्ग भी केवल यही एक नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिये।

यह आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर है, इससे आपका कुछ समाधान होगा तो आनन्दकी बात है। न होनेपर भी आनन्द ही है। आपके पत्रका उत्तर लिखनेमें इस विषयका कुछ पवित्र मनन हुआ, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। साधुवाद स्वीकार करें।

(३)

जगत्‌का स्वरूप और ब्रह्मज्ञानीके व्यवहार

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। जगत् वस्तुतः क्या वस्तु है और ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मज्ञानीके लिये जगत् क्या रह जाता है—इन दोनों ही प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेकी शक्ति मुझमें नहीं है; क्योंकि न तो मैंने जगत्‌के वास्तविक स्वरूपका अनुभव किया है और न मुझे ब्रह्मज्ञान ही हुआ है। जगत्‌को कुछ लोग मिथ्या कहते हैं और कुछ लोग भगवत्-रूप। इनमें मुझे भगवत्-रूप मानना अधिक अच्छा लगता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जहाँ-तहाँ जगत्‌को भगवत्-रूप ही बताया गया है। 'सब कुछ वासुदेव ही है।' 'मेरे (भगवान्‌के) सिवा और कुछ भी नहीं है' **'सर्वं वासुदेवः इति'** (गीता ७।१९) **'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति'** (गीता ७।७)। ब्रह्मज्ञान होनेपर जगत् नहीं रहता, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद भी ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जगत्‌में कर्म होते देखे जाते हैं। चाहे अहंकारके अभावसे उनको अकर्म माना जाय—चाहे वे भूँजे बीजकी भाँति फलोत्पादन न कर सकें; परन्तु कर्म तो होते ही हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं जगत्‌में विधिवत् कार्य किये हैं। राजर्षि जनकने राज्य-पालन किया। वेदोंका विभाग करनेवाले भगवान् व्यास और शुकदेवके समान ज्ञानी कौन होगा; परन्तु उन्होंने भी महाभारत और पुराणादि ग्रन्थ बनाये और पढ़े-सुनाये। भगवान् शंकराचार्य परम ज्ञानी थे, परन्तु जीवनभर धर्म-प्रचारका कार्य करते रहे। यदि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद जगत्‌का सर्वथा प्रलय हो गया होता तो इन महात्माओंके द्वारा कर्म होना सम्भव नहीं था। हाँ, ब्रह्मज्ञान होनेपर 'जगत् ब्रह्मसे भिन्न है' यह भ्रम अवश्य मिट जाता है।

अज्ञानी व्यक्ति जगत्‌को ब्रह्मसे भिन्न देखते हैं और ज्ञानी महात्मा उसे ब्रह्मस्वरूप। जैसे स्वर्णके एक पिण्डसे ही भाँति-भाँतिके गहने बनते हैं, उन सबको स्वर्णरूपमें देखना ही यथार्थ देखना है। यदि कोई स्वर्णको भूलकर गहनोंको सोनेसे अलग देखता है तो वह भ्रममें है—ऐसे ही संसारी प्राणी जगत्‌को ब्रह्मसे अलग देखते हैं, इसीसे वे अज्ञानी हैं—भ्रान्त हैं। इसी प्रकार जगत्‌को ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही यथार्थ देखना है। ऐसी हालतमें, जैसे सोनेके सब गहनोंको सोना समझनेपर भी गहने अपने आकार-प्रकारमें रहते हैं, चाहे वे टूटते-फूटते और बदलते रहते हों। वैसे ही ब्रह्मज्ञान हो जानेपर भी जगत् अपने आकार-प्रकारमें रहता है। मिथ्या नहीं है—जगत्‌की ब्रह्मसे भिन्नताका भ्रम ही मिथ्या है। सोनेके गहनोंको यदि कोई मिथ्या कहे तो उसे भी भ्रान्त कहते हैं; क्योंकि वस्तुतः सोना होनेपर भी गहनोंके आकार-प्रकार और व्यवहारमें भेद है ही और उनका अस्तित्व भी है ही। इसी प्रकार ब्रह्मके ही जगत्-रूपमें भासनेपर भी जगत्‌की सारी वस्तुओंका अस्तित्व है ही। इसीसे श्रुतिने कहा है— **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।'** 'सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्मके सिवा कुछ भी नहीं है।' जैसे सब गहने सोना ही हैं, सोनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत्‌को सर्वथा मिथ्या बौद्धोंने कहा है; वेदान्त मिथ्या नहीं बतलाता, परन्तु ब्रह्मरूप बतलाता है। अतएव जगत् वस्तुतः ब्रह्मरूप है और ब्रह्मज्ञान होनेपर जगत् ब्रह्मरूप ही रह जाता है।

आपने पूछा कि ब्रह्मज्ञानी व्यवहार कैसे करता है? सो इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मज्ञानी वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा शास्त्रदृष्टिसे उसको करना चाहिये। जैसे सब गहने सोना होनेपर भी नथ नाकमें पहनी जाती है, कड़े-कंकण हाथोंमें

और हार गलेमें, वैसे ही सारा जगत् ब्रह्मरूप होनेपर भी व्यवहार वस्तुओंके अनुरूप ही होता है। ब्रह्मज्ञानी पिताको पिता, माताको माता, पत्नीको पत्नी और पुत्रको पुत्र मानकर ही व्यवहार करेगा। वह जहरको जहर मानेगा और अमृतको अमृत ही। अतएव जो व्यक्ति जिस पदसे सम्बन्ध रखता है, उसके साथ उसी पदके अनुकूल व्यवहार होगा। भिखारीके साथ जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा ही व्यवहार यदि सम्राट्‌के साथ किया जाय तो बड़ा बुरा परिणाम होता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानीके व्यवहार शास्त्र और समाजके अनुकूल ही होते हैं। अवश्य ही राग-द्वेष, कामना-वासना और अभिमान-अहंकार न होनेसे उसके व्यवहारमें कोई दोष नहीं आता। वह उज्ज्वलसे भी उज्ज्वल और आदर्शरूप होता है। उसके व्यवहारसे किसीका अहित नहीं होता। इतना होनेपर भी उसका व्यवहार होता है अपने स्वभावके अनुरूप ही। कर्मठ स्वभावका ज्ञानी विशेष कर्मशील होगा और विरागी स्वभावका ज्ञानी निवृत्तिपरायण होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंमें ही यथायोग्य व्यवहार होंगे। बुद्धियुक्त नियमित अप्रमत्त व्यवहारका अभाव तो तभी होता है, जब किसी भी कारणसे बाह्य ज्ञान नहीं रहता। चाहे वह नशा खानेसे हो, पागलपनसे हो या ज्ञानकी उच्च भूमिकाओंपर पहुँचनेसे। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञानीका प्रमत्त व्यवहार होनेपर ही उसे उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ समझा जाय। महर्षि व्यास-नारद आदिसे बढ़कर कौन ज्ञानी होंगे; परन्तु इनके व्यवहार बड़ी सावधानीसे होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने तो स्वयं अपना उदाहरण देकर सावधानीके साथ नियत कर्म करनेका ज्ञानीको आदेश दिया है।

(४)

भगवान्‌का स्वरूप

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का स्वरूप क्या है? यह ठीक-ठीक भगवान् ही जानते हैं। अथवा वे कृपा करके जिसे जना दें, वह भगवत्-स्वरूपके विषयमें कुछ-कुछ जान सकता है। कुछ-कुछ इसलिये कि मानवी बुद्धि भगवान्‌के स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकती। उनकी महिमाके एक अंशका भी सम्यक्-रूपसे ग्रहण नहीं कर सकती। जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओंकी भी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, शेष-शारदाकी भी वाक्-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है वहाँ मानवीय मन-बुद्धिकी क्या गति होगी—यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। शास्त्रकी वाणीमें—जहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सम्पूर्ण वैभव प्रतिष्ठित हैं, वे ही भगवान् हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवत्-स्वरूपकी त्रिविध अभिव्यक्ति सूचित की गयी है—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्। **'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।'** ब्रह्म निर्गुण निराकार हैं, परमात्मा सगुण निराकार हैं और भगवान् सगुण साकार मंगलविग्रह दिव्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं। जैसे भगवान् सूर्यकी त्रिविध अभिव्यक्ति होती है—एक सूर्यका प्रकाश है, जो सर्वत्र व्यापक है। दूसरा सूर्यमण्डल है, जो प्रकाशका घनीभूत पुंज है तथा तीसरी अभिव्यक्ति साक्षात् सूर्यनारायणकी है, जो सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता हैं। यहाँ प्रकाश सूर्यमण्डलके आश्रित है और सूर्यमण्डल सूर्यनारायणके। इस प्रकार भगवान् सूर्य

ही सम्पूर्ण तेज और प्रकाशके उद्भावक हैं। वे एक देशमें स्थित होकर भी प्रकाशके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं और तेजोमण्डलके रूपमें सम्पूर्ण लोकके प्रकाशक एवं सविता (उत्पादक और पालक) हैं। इसी प्रकार सर्वव्यापक प्रकाशस्थानीय ब्रह्म ही विभु हैं। वही अनन्त, असीम, अगुण एवं अवाङ्‌मनस-गोचर तत्त्व है। इस ब्रह्मका भी आश्रय—घनीभूत प्रकाश, जिसे चिन्मय परम धाम, परम पद, परम व्योम, त्रिपाद, अमृत एवं वैकुण्ठ आदि धाम कहते हैं, परमात्मा है; और इस घनीभूत प्रकाश-पुंजके भी प्राण, आत्मा एवं आधार सच्चिदानन्दरसघन-विग्रह अखिलरसामृत-सिन्धु साक्षात् भगवान् हैं, जिन्हें शास्त्र श्रीकृष्ण, श्रीराम, महानारायण, सदाशिव आदि नामोंके द्वारा वर्णन करता है। यह त्रिविध अभिव्यक्ति एक ही है। एक ही तत्त्वके तीन नाम दे दिये गये हैं। इस प्रकार सगुण साकार सच्चिदानन्दमय मधुरातिमधुर विग्रहका ही नाम भगवान् है। यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। वास्तवमें भगवत्-स्वरूपका किंचित्-मात्र बोध भी केवल भगवत्कृपासाध्य है। यह स्वानुभवैकगम्य विषय है।

(२) आत्माका स्वरूप क्या है? यह प्रश्न करते समय आप 'आत्मा' के मानी 'जीव' समझ रहे हैं। भागवत, गीता तथा रामायण आदि सद्ग्रन्थोंमें जीवको 'ईश्वरका अंश' कहा गया है। स्वरूपतः वह भी विमल चैतन्यरूप एवं सहज आनन्दराशि है, किन्तु मायावश वह अपने स्वरूपको भूल गया है; अतएव वह अपनेको बद्ध, दुःखी, जरा-मृत्युसे ग्रस्त मानता है। जब सत्-समागम तथा पुण्यविशेषसे वह भगवान्‌की शरण जाता है, तब वे कृपा करके जीवको अपनी भक्ति देते और उसे अपने स्वरूपका बोध कराते हैं। फिर तो वह

अपनेको प्राकृत शरीरसे अतीत, अजर, अमर, अजन्मा एवं नित्यमुक्त देखने लगता है और भगवत्सेवाजनित सुखके सिन्धुमें निमग्न हो जाता है। जीवभावकी निवृत्ति होनेपर यह विशुद्ध आत्मा बन जाता है। विशुद्ध आत्मा तो वह अब भी है ही, जीवत्वके भ्रमसे इस सत्यको देख नहीं पाता। भ्रम दूर होनेपर सत्यका उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर तो वह परमात्मासे भिन्न नहीं रह जाता। केवल भगवत्सेवा-रसका आस्वादन करनेके लिये अपने पार्थक्य-अभिमानको बनाये रखता है। **'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'** यह उसकी सहज निष्ठा है।

(३) 'परमात्माका स्वरूप क्या है?' इस विषयमें ऊपर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। जब केवल परमात्माके विषयमें प्रश्न हो, तब उसे सम्पूर्ण परमात्मतत्त्व—समग्र ब्रह्मविषयक समझा जाता है। अतः परमात्मपदसे यहाँ ईश्वर, भगवान्, ब्रह्म आदि सभी नामोंका ग्रहण हो जाता है। अतः जो सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्डका आत्मा और आधार है, जिससे यह सब कुछ उत्पन्न होता है, जहाँ इसकी स्थिति है और पालन होता है तथा अन्तमें जहाँ इसका विलयन हो जाता है; वह सर्वात्मा, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वपोषक तत्त्व ही परमात्मा है। वह सम्पूर्ण प्राकृत प्रपंचमें व्याप्त होकर भी उससे परे है। वह मायाके अधीन नहीं, माया उसके अधीन है। वही बन्धन और मुक्ति देनेवाला है। उसीके स्वरूपगत प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है। वह मनका भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि, प्राणोंका भी प्राण तथा आत्माका भी महान् आत्मा है। वह सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, सर्वमय, सर्वातीत, भेद-अभेद तथा उभयातीत-स्वरूप, मन-

बुद्धिसे अगोचर, परम तत्त्व, सारे सिद्धान्तों और फलोंका अन्तिम अनिर्वचनीय और अचिन्त्य फल है।

(४) 'आत्मा कितने हैं?' यह प्रश्न जीवको लेकर ही बन सकता है। तो जीव अनन्त हैं, असंख्य हैं। यह भेद-भ्रम अज्ञानजनित है। जैसे समुद्रकी बूँदें असंख्य हैं, उसमें उठनेवाली लहरें अपरिमित हैं, तथापि पृथक् नहीं गिनी जा सकतीं। वे सब मिलकर एक समुद्र है। इसी प्रकार असंख्य चिन्मय जीव एक परमात्माके ही अंश हैं। अतः परमात्मरूपसे सब एक है और जीवरूपसे तो उनकी कोई नियत संख्या सम्भव ही नहीं है।

(५) 'एक है तो कैसे जाना जाय और अनेक है तो कैसे जाना जाय;' इस प्रश्नका उत्तर भी ऊपर आ चुका है। परमात्मरूपसे सब एक है, जैसे समुद्ररूपसे सब लहरें एक हैं। जैसे समुद्रकी लहरोंकी गणना अशक्य है, वैसे ही जगत्‌के अनन्त जीवोंकी गणना भी असम्भव है। फिर भी शास्त्रकारोंने जीवजगत्‌की चार श्रेणियाँ मानी हैं—अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिनमें जीवोंका जन्म होता रहता है। एक-एक योनियोंमें अनन्त जीव देखे जाते हैं, फिर चौरासी लाख योनियोंके जीवोंकी गणना कौन कर सकता है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

ज्ञान और भक्ति

सादर हरिस्मरण। आपने नीचे लिखा प्रश्न किया है—

प्रश्न है—'ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है या भक्तिसे ज्ञान? इनमेंसे किसका स्थान ऊँचा है?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है और भक्तिसे ज्ञान। दोनोंका ही स्थान ऊँचा है। कोई किसीसे छोटा या बड़ा, ऊँचा या नीचा नहीं है। वास्तवमें भक्ति या ज्ञानके स्वरूपको ठीक-ठीक न जाननेके कारण ही ऐसे प्रश्न होते हैं। ज्ञान क्या है? भगवान्‌के तत्त्वका यथार्थ बोध होना और भक्ति क्या है? भगवान्‌के स्वरूपमें प्रगाढ़ प्रेम होना। जिसे भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होगा, वह इतर वस्तुओंसे हटकर भगवान्‌की ओर ही आकृष्ट होगा। जितना ही उनके तत्त्वका ज्ञान होगा, उतना ही उनके प्रति प्रेम बढ़ता जायगा और उसके परिणाममें संसारसे वैराग्य भी होता जायगा। श्रीमद्भागवतमें कहा है—जो भगवान्‌की शरणमें जाता है, उसमें तीन बातें साथ-ही-साथ प्रकट होने और बढ़ने लगती हैं— भगवान्‌के प्रति प्रेम, भगवत्तत्त्वका ज्ञान तथा अन्य वस्तुओंसे वैराग्य, जैसे भोजन करनेवाले मनुष्यको प्रत्येक ग्रासके साथ ये तीन बातें प्राप्त होती हैं—तृप्ति, पुष्टि और भूखकी निवृत्ति। यथा—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

(११।२।४२)

यह ज्ञानसे भक्तिका बढ़ना हुआ। गीतामें भी भगवान्‌ने ज्ञानसे भक्ति और भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५४-५५)

'ब्रह्मको प्राप्त (वह पुरुष) प्रसन्नचित्त होकर न तो फिर शोक करता है न आकांक्षा ही। सब भूतोंमें समताको प्राप्त वह मेरी पराभक्तिको पाता है। फिर उस पराभक्तिसे वह मुझे जैसा और जो मैं हूँ, तत्त्वसे जान लेता है। तब मुझको तत्त्वसे जानकर वह इसके अनन्तर मुझमें प्रवेश हो जाता है।'

जो भगवान्के प्रति जितना प्रेम बढ़ायेगा, वह उनके यथार्थ स्वरूप और रहस्योंसे उतना ही अधिकाधिक परिचित होता जायगा। यह भक्तिसे ज्ञानकी वृद्धि हुई। लोकमें भी देखा जाता है—जो जिससे प्रेम करता है, वह उसके आन्तरिक रहस्योंसे विशेष परिचित रहता है। जब ज्ञान और भक्ति दोनों ही एक-दूसरेके पोषक हैं, तब किसको किससे बड़ा कहा जाय। फलकी दृष्टिसे तो दोनोंमें कोई भेद है ही नहीं, साधनकालमें भी ज्ञानके साथ भक्तिका सम्बन्ध देखा जाता है। अतएव ज्ञान या भक्तिमें कोई भेद या तारतम्य नहीं मानना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

इस प्रकार स्वरूप और महत्त्वकी दृष्टिसे दोनोंमें कोई अन्तर न होनेपर भी साधनमें सुखद, सुगम और भगवान्को अत्यन्त प्रिय होनेके कारण शास्त्रोंमें भक्तिकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है। 'ज्ञानके पथ' को कृपाणकी धार कहा जाता

है, उससे गिरते देर नहीं लगती। एक तो वह सर्वसाधारणके लिये अगम्य होता है, दूसरे उसमें अनेक प्रकारके विघ्नोंसे स्खलनका भय रहता है। साधन भी उसका कठिन है।

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥

'स्वयं भगवान् कहते हैं— '**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।**' देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गति कष्टसाध्य है। देहाभिमानसे छूटना सहज नहीं है। भक्तिमें इससे कोई भय नहीं होता। वहाँ देह और उसका अभिमान दोनों श्रीहरिके चरणोंमें समर्पित हो जाते हैं। भक्तके योग-क्षेमका भार भगवान्पर होता है। वे '**जिमि बालक राखइ महतारी**' की भाँति सदा भक्तिकी रखवारीमें लगे रहते हैं। ज्ञानका चरम फल है मुक्ति— '**ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।**' परन्तु रामका भजन करनेवाले भक्तके पास वह मुक्ति अपने-आप आती है—

'**अनइच्छित आवइ बरिआईं।**'

इतना ही नहीं, ज्ञान और विज्ञान सब कुछ भक्तिके अधीन है।

तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।

जैसे जल स्थलके बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार मोक्ष-सुख भक्तिके बिना नहीं रहता—

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

जिस अविद्याका नाश करनेके लिये ज्ञानयोगीको बहुत प्रयत्न करना पड़ता है, वही भक्तके लिये अनायास सिद्ध है।

भक्ति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥

और भक्तिहीन ज्ञान भी भगवान्को प्रिय नहीं है—

भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ।

श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक कहा गया है कि जो भगवान्की

कल्याणकारिणी भक्तिकी ओरसे उदासीन होकर केवल ज्ञान-प्राप्तिके लिये क्लेश उठाते हैं, उन्हें केवल परिश्रम ही हाथ लगता है—ठीक उसी तरह जैसे भूसी कूटनेवालेको चावल नहीं मिलता, केवल श्रम ही उठाना पड़ता है।

श्रेयःस्त्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(१०। १४। ४)

इस प्रकार विचार करके सबको भगवान्‌की भक्तिमें ही मन लगाना चाहिये।

(६)

राग-द्वेषके प्रभावसे बचना चाहिये

राग-द्वेषकी बात लिखी सो ठीक है। राग-द्वेष सभी जगह मिलेगा, यह तो श्रीभगवान्‌ने कहा ही है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३।३४)

प्रत्येक इन्द्रियके प्रति अर्थमें राग-द्वेष है, हमें उनको अपना शत्रु समझकर उनके वश नहीं होना चाहिये। वास्तवमें राग-द्वेषादिका कारण अपनी ही भूल है। हमारे मनसे राग-द्वेष निकल जायगा तो जगत्‌में हमें कहीं राग-द्वेषके दर्शन नहीं होंगे। ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है। राग-द्वेष मायाका कार्य है। मायाकी ग्रन्थिसे छूटा हुआ व्यक्ति राग-द्वेषका दर्शन वस्तुतः नहीं पाता। वैसी स्थिति न होनेतक यथासाध्य राग-द्वेषका प्रभाव अपने चित्तपर नहीं पड़ने देना चाहिये—

तेरे भाएँ जो करो भलो-बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

आपने लिखा कि मेरे लायक कोई शिक्षा लिखियेगा, सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये। मुझमें न तो शिक्षा देनेकी कोई योग्यता है और न अधिकार ही है। आपकी मुझपर सदासे कृपा रही है, उसी कृपाके भरोसे प्रार्थना या सलाहके रूपमें आपको कुछ लिखनेकी धृष्टता—आपके पूछनेपर—कर बैठता हूँ।

परम प्रेम

(१) अपनेको और भगवान्‌को यथार्थरूपसे जाननेके बाद ही यथार्थ प्रेम होता है, परन्तु यथार्थरूपसे जानना भी प्रेमके बिना सम्भव नहीं। इस ज्ञान और प्रेममें परस्पर साध्य-साधन-सम्बन्ध है। पहले कुछ ज्ञान होनेपर प्रेम होता है, प्रेम होनेपर यथार्थ ज्ञान होता है। और यथार्थ ज्ञानके अनन्तरका जो परम प्रेम है, वही सर्वोच्च प्रेम है। उसी प्रेमको भक्तोंने रसाद्वैत कहा है। यहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदकी एकता हो जाती है। परस्पर दोनों एक-दूसरेमें विलीन हो जाते हैं। दो मिलकर एक हो जाते हैं। इसीको परम शान्ति कह सकते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌के गुणविशेषके प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करना शान्तिका हेतु नहीं होता। निर्गुणके साधकतकको आरम्भमें गुण देखकर ही अर्थात् निर्गुणकी साधनासे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी—ऐसा समझकर साधनामें प्रवृत्त होना पड़ता है। यथार्थ ज्ञान अपने-आप नहीं हो जाता।

ज्ञानवान्‌की अभेदभक्ति

(२) आपका दूसरा प्रश्न है—'भगवान्‌के साथ अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से हो सकती है या नहीं? यदि हो सकती है तो उससे उसको विशेष क्या लाभ है?' इसका उत्तर यह है कि अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से ही हो सकती है—अज्ञानीसे नहीं। पहले यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि इस अवस्थामें 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ क्या है। ज्ञानवान् वही होता है, जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुका। जिसके अज्ञानकी समस्त ग्रन्थियाँ सदाके लिये खुल गयीं, जो मायास्वप्नसे सर्वथा जग गया। परन्तु यह भी नहीं कि उस पहलेके अज्ञानकी स्मृति हो और अब ज्ञानवान् होनेका भान हो। वास्तवमें 'ज्ञानवान्' शब्द अज्ञानियोंके लिये ही सार्थक

होता है। ज्ञानवान् मुक्त पुरुषके लिये 'ज्ञान' और 'अज्ञान' दोनों शब्द निरर्थक हो जाते हैं। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप होता है, ज्ञानका भोक्ता नहीं—इसीसे उसकी स्थिति अनिर्वचनीय होती है। वह सर्वत्र सबमें एकमात्र सम ब्रह्मको देखता है— '**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु**.....' इस प्रकार ब्रह्मभूत होनेपर ही भगवान् कहते हैं कि उसे मेरी परा भक्ति प्राप्त होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्।**' यह परा भक्ति ही अभेदभक्ति है, जो ब्रह्मभूत हुए बिना नहीं मिलती। इस परा भक्तिसे ही भगवान्‌का, समग्र भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान होता है— '**भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।**' और यह तत्त्वज्ञान ही सर्वतोभावसे एकत्व कराता है। यहाँपर यही 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ है। इस भक्तिके बिना पूर्णरूपसे वास्तविक एकत्व नहीं होता। इसके अनन्तर ही होता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं— '**विशते तदनन्तरम्।**' यही विशेष लाभ है, जो अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अतएव अभेदभक्ति अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। इस अभेदभक्तिको ही ज्ञानकी परानिष्ठा कहते हैं। इसीको भक्त प्रेमाभक्ति कहते हैं। अवश्य ही बाह्यरूपमें देखनेपर दोनोंमें बहुत कुछ भेद प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः है एकही-सी स्थिति। यही असली ज्ञान है और इस ज्ञानको प्राप्त पुरुष ही यथार्थ ज्ञानवान् है।'

ज्ञानवान्‌की स्थिति

(३) आपका तीसरा प्रश्न है—'स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके पश्चात् ज्ञानवान्‌की वृत्ति क्या काम करती है? ज्ञानवान्‌को संकल्प-विकल्प रोकनेकी आवश्यकता है या नहीं? यदि है तो क्यों है? यदि नहीं है तो संकल्पसे न्याय या विपरीतादि कर्मसे उसका मोक्षमें प्रतिबन्धक है या नहीं?' इस प्रश्नके

उत्तरमें सबसे पहले मेरा यह निवेदन है कि पहले ज्ञानवान्‌के स्वरूपको समझ लेना चाहिये। यदि ज्ञानवान् शब्दसे हम केवल शास्त्रज्ञानी या परोक्षज्ञानी लेते हैं, तब तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी अविद्या-ग्रन्थि अभी टूटी नहीं है। वह अहंकारवृत्तिके द्वारा संचालित होता है, ऐसी अवस्थामें आत्माके विरुद्ध विजातीय संकल्प-विकल्पोंको रोकनेका साधन करनेकी उसे नितान्त आवश्यकता है। यदि वह नहीं रोकेगा तो उसकी चित्तवृत्तियाँ सतत विषयाभिमुखी होकर उसके शास्त्रज्ञानकी कुछ परवा न करके उसे मोहके गहरे गर्तमें डाल देंगी—विषयासक्तिके प्रवाहमें उसको बहा देंगी। और यदि ज्ञानवान्‌का अर्थ यथार्थ ज्ञानी अथवा मुक्त पुरुष है, तब वह वृत्तियोंका धर्मी या कर्ता रहता नहीं। वस्तुतः वह स्वयं उस अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया है जो चित्त तो क्या, बुद्धिसे भी अति परे है। जहाँ चित्त ही नहीं है वहाँ चित्तवृत्ति कहाँसे आती और चित्तवृत्तिके अभावमें चित्तवृत्तियोंके कार्यका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो स्थिति है। अब यदि प्रारब्धवश जीवित रहे हुए शरीरमें स्थित चित्तवृत्तियोंकी बात कहें तो वहाँ यह कहना और मानना पड़ता है कि पहले अन्तःकरणके शुद्ध और निष्काम हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर शरीरमें स्थित उस निष्काम और शुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा कोई संकल्प-विकल्प या तज्जन्य विपरीत कर्म होता ही नहीं जो दूषित हो या विपरीत हो। और स्वाभाविक ही होनेवाले न्यायकर्मका भी कोई धर्मी या कर्ता न होनेसे फल उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धककी तो बात ही नहीं उठती; क्योंकि बाधा तो पथमें ही होती है। घर पहुँच जानेपर मार्गकी बाधाका कोई प्रश्न ही नहीं रह

जाता। अतएव मेरा तो यही निवेदन है कि ज्ञानवान् वृत्तिसे ऊपर उठा हुआ है अतएव उसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ज्ञानवान् और मोक्षको प्राप्त एकार्थवाची ही शब्द हैं। फिर प्रतिबन्ध कैसा?

इस प्रकार आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने जो कुछ मनमें आया, लिख दिया है। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरा मत सर्वथा अभ्रान्त है। न यह कहता हूँ कि यह मत मेरा है। सब शास्त्रकी बातें हैं। इन्हें अच्छी तरह समझना चाहिये—आग्रह छोड़कर मनन करना चाहिये। एक 'ज्ञानवान्' शब्दका अर्थ जान लेनेपर सब झगड़ा मिट जाता है। मैं ऐसी किसी स्थितिको नहीं मानता, जिसके लिये यह कहा जाय कि पूर्ण यथार्थ ज्ञान भी हो गया और मोक्ष बाकी भी रह गया। और ऐसी स्थिति न माननेपर आपका तीसरा प्रश्न उठता ही नहीं। भूल-चूकके लिये क्षमा कीजियेगा। मैंने जो कुछ लिखा है, उसे प्रार्थनाके रूपमें समझियेगा, उपदेशके रूपमें नहीं। आपकी कृपा सदा रहती ही है।

(७)

मुक्ति और भगवत्सेवा

सप्रेम हरिस्मरण। आपके पत्रका उत्तर बहुत विलम्बसे जा रहा है। दूसरे कार्योंमें लगे रहनेसे इधर ध्यान देनेका अवसर न मिला। अतः कितने ही पत्रोंके उत्तरमें देर हो गयी। इसके लिये मनमें विचार न करेंगे।

(१) आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—भागवतमें पाँच प्रकारकी मुक्ति बतायी गयी है। सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य तथा एकत्व। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—भगवान्‌के समान ऐश्वर्यसे युक्त होना 'सार्ष्टि मुक्ति' है। भगवान् जहाँ भी रहें उनके समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो, यह 'सामीप्य मुक्ति' है। भगवान्‌के धाममें रहनेका स्थान प्राप्त होना ही 'सालोक्य मुक्ति' है। भगवान्‌का जैसा स्वरूप है, वैसा ही अपना भी हो जाना 'सारूप्य मुक्ति' है तथा भगवान्‌के स्वरूपमें लीन होकर उनसे एकाकारता प्राप्त कर लेना, यह 'एकत्व' या 'सायुज्य मुक्ति' है।

(२) यद्यपि इन सबमें किसी-न-किसी रूपमें भगवत्सान्निध्य प्राप्त रहता है और भक्त भगवान्‌का मिलन-सुख चाहते ही हैं, तथापि इन सबमें आत्मसुखको ही प्रधानता दी गयी है। भगवान्‌के समान ऐश्वर्य, लोक, रूप तथा उनका सामीप्य पाकर जो स्वयं सुखी होना चाहता है, वह मोक्षका पात्र है किन्तु जो अपने सुखको महत्त्व नहीं देता जो भगवान्‌को सुख पहुँचाकर ही सुखी होता है, उसके लिये उनकी सेवा ही सबसे बड़ी वस्तु है। अतएव (**'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'**) प्रेमी भक्तजन देनेपर भी इन मुक्तियोंको

ग्रहण नहीं करते। मुक्तिमें भोग है और सेवामें त्याग, इसलिये सेवाका ही स्थान ऊँचा है।

(३) जहाँ मुक्तियोंका भी तिरस्कार हो जाता है, ऐसी सेवाका आदर्श हैं—गोपियाँ **'यथा व्रजगोपिकानाम्'** (नारदभक्तिसूत्र २१)। उनका सारा जीवन ही सेवामय है। उनका चलना-फिरना, सोना-जागना, उठना-बैठना, खाना-पीना, वस्त्राभूषण धारण करना आदि सब कुछ श्रीकृष्णके ही लिये है। वे श्रीकृष्णको सुख पहुँचाकर उन्हें आनन्दित देखकर ही सुखी होती हैं। प्रियतमका सुख ही उनका सुख है। वे अपनेको श्रीकृष्णकी सेवापर न्योछावर कर चुकी हैं। जहाँ तन, मन, प्राण, आत्मा और उससे होनेवाले सारे कार्यकलाप भगवान्‌को समर्पित हो जाते हैं, वहीं सच्ची सेवा बन पाती है। शेष सब प्रभुकी कृपा है।

(८)

भगवान्के शरण हो जाइये

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि आप धीरे-धीरे भगवान्में प्रेम बढ़ावें। भगवान्में तभीतक अधिक प्रेम नहीं होता, जबतक कि हमारा मन सांसारिक विषयोंमें फँसा रहता है। जब हम संसारके भोगोंको भगवान्से भी ऊँचा स्थान देने लग जाते हैं, तब भगवान् हमें कैसे अपनावें, वे हमारे सामने कैसे प्रकट हों। अतः पहले भगवान्के महत्त्वको समझना और उसपर मनन करना चाहिये। संसार-के सभी पदार्थ नाशवान् तथा मलिन हैं। भगवान् ही परम सुन्दर, नित्य, अविनाशी, परम प्रेमी तथा अत्यन्त दयालु हैं। उनके इन गुणोंका चिन्तन कीजिये। जब मन यह अच्छी तरह समझ लेगा कि संसारके विषय अत्यन्त घृणित हैं और भगवान् ही सबसे श्रेष्ठ हैं तो वह निश्चय ही भगवान्की ओर अग्रसर होगा। इसके लिये आप भगवान्के नामोंका जप करें। भगवान्के गुणोंकी चर्चा, उनकी लीलाओंकी कथा-वार्ता पढ़ें और सुनें। इससे भगवान्का महत्त्व समझमें आयेगा और प्रेम भी बढ़ेगा।

भगवान् बड़े दयालु हैं, उनकी दया सबपर बरसती रहती है। वे सबको अपनानेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं। कोई उनकी ओर एक पग भी चले तो वे सौ पग आगे बढ़कर मिलने आते हैं। अतः आपको भगवान्पर कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। वे आपको अपना सब कुछ बना लेंगे। आप उनके हो तो जाइये। अपनेको उनकी शरणमें डाल दीजिये और रो-रोकर प्रार्थना कीजिये—'भगवन्! मैं जैसा भी हूँ,

आपका हूँ। मेरे सारे पाप-ताप हर लीजिये और अपना पावन प्रेम प्रदान कर मुझे कृतार्थ कीजिये।' इस प्रकार आर्तभावसे पुकारते रहनेसे कभी-न-कभी आपकी सुनवायी भी होगी ही। आपको हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। आप भगवान्से नाता जोड़िये। वे स्वयं ही अपनी ओर आपको खींचेंगे। शेष सब प्रभुकी दया।

(९)

भगवान्‌की शरण ग्रहण कीजिये

आपकी प्रार्थनाका मैं क्या उत्तर दूँ? मैं न कोई सिद्ध हूँ न महात्मा। आप उच्च कुलमें उत्पन्न भगवद्भक्त ब्राह्मण हैं। मैं एक साधारण वैश्य हूँ। आपने इष्टदेवकी तरह मेरी स्तुति की है। इससे मैं तो संकोचके भारसे दबा जाता हूँ। मैं न आपकी स्थितिसे परिचित हूँ और न आपकी कठिनाइयोंको समझता हूँ; फिर आपको क्या सलाह दूँ? आपने तो शायद मुझे अन्तर्यामी और सर्वज्ञ ही समझकर मेरी शरण ली है; परन्तु मुझमें ऐसी शक्ति कहाँ है जो किसीका संसार-बन्धन काट सकूँ। मैं तो उन दयामयका एक नगण्य दास हूँ। वे विश्वविधाता जिस प्रकार सारे विश्वकी व्यवस्था कर रहे हैं, उसी प्रकार मुझे भी नचा रहे हैं और मैं उनकी प्रेरणाका अनुसरण करते हुए ही कुछ कर रहा हूँ। उससे संसारके कुछ प्राणियोंकी यदि सेवा होती है तो यह उनपर उन दयामयकी ही कृपा है। मुझे यन्त्र बनाकर वे जगन्नियन्ता ही उनकी किसी आवश्यकताकी पूर्ति कर रहे हैं। मैं मिट्टीका पुतला भला क्या कर सकता हूँ। आपको भी यदि उन प्राणनाथसे कुछ पानेकी लालसा है तो आप उन्हींकी शरण लीजिये। उनके राज्यमें मेरे-जैसे असंख्य किंकर धूलिकण-सरीखे भरे पड़े हैं। वे आपकी सच्ची पुकार अवश्य सुनेंगे और जिसे उपयुक्त समझेंगे, आपकी सेवामें नियुक्त कर देंगे। उनके द्वारसे खाली हाथ कभी कोई नहीं लौटता; आप उन्हींको पुकारिये, उन्हींके आगे गिड़गिड़ाइये, उन्हें ही अपना दुःख सुनाइये और उन्हींकी यादमें सब कुछ भूल जाइये। जब

उनके बिना आपको जीवन भार हो जायगा तो वे जगज्जीवन अवश्य आपपर कृपा करेंगे।

इस प्रकार उनके शरणागत होकर उनका भजन-स्मरण करते हुए यदि आपको कोई साधन-सम्बन्धी समस्या पूछनी हो तो आप मुझसे या अन्य किसी पुरुषसे पूछ सकते हैं। उस समय यदि मुझसे हो सकेगा तो मैं उसका कोई समाधान करनेका प्रयत्न करूँगा। परन्तु मेरा तो विश्वास है कि जो उनका होकर सच्चे हृदयसे उनकी शरण ले लेता है, उसके मार्गके सारे विघ्नोंको वे स्वयं ही निवृत्त कर देते हैं। उसे फिर और किसीका मुँह नहीं ताकना पड़ता। अतः आप और सबका आश्रय छोड़कर एकमात्र उन्हींके शरणापन्न हो जाइये।

(१०)

शरणागतिका आदर्श

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। उत्तर देनेमें बहुत विलम्ब हो गया। कृपया क्षमा करेंगे।

१—अन्तःकरणकी शुद्धिका उपाय

आपने अन्तःकरण शुद्ध होनेका सुगम उपाय पूछा है। इसके लिये सबसे सुगम उपाय है—भगवान्‌के नामोंका निरन्तर जप। अन्तःकरण अशुद्ध होता है—पाप-वासनाओंसे, आसक्ति, ममता, अहंता आदि दोषोंसे—ये सब अन्तःकरणकी मैल हैं। भगवन्नामके पावन जलसे ही यह मैल धुल पाती है। भगवान् सूर्य जिस प्रकार रातके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम दोष, दुःख और दुराशाका दलन कर डालता है। तुलसीदासजी कहते हैं—

सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥
जन मन अमित नाम किए पावन। नाम सकल कलि कलुष नसावन॥
'नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं।' इत्यादि।

२—ईश्वरको कैसे पुकारें?

ईश्वरके विरहमें रुदन स्वभावतः होना चाहिये। रोना और हँसना सीखना नहीं पड़ता। अत्यन्त प्रियके विछोहका अनुभव प्राणोंको बरबस रुला देता है। अभी तो हमने संसारके सगे-सम्बन्धियोंको ही प्रिय मान रखा है। धन और भोगोंके प्रति ही हमारा अधिक आकर्षण है। ऐसी दशामें भगवान्‌के लिये हम व्याकुल कैसे हो सकते हैं? हम जानते हैं और सदा देखते हैं कि धन-भोग क्षणभंगुर हैं—आज हैं, कल नहीं। इसी प्रकार यहाँके सगे-सम्बन्धी, यहाँतक कि

यह शरीर भी मृत्युके बाद साथ नहीं देता। सब यहीं रह जाते हैं। जीवको अकेला ही जाना पड़ता है। उस समय भी जीवके नित्य सहचर भगवान् उसके साथ रहते हैं। प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्थामें यदि कोई साथ देता है तो वे हैं परम करुणामय भगवान्। वे सबके घट-घटमें विराज रहे हैं। उनकी दया इतनी है कि वे सबको अपनी शरणमें आनेके लिये स्वयं पुकार रहे हैं, सबको पापों और दुःखोंसे छुटकारा दिलानेकी सान्त्वना दे रहे हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

एक हम हैं जो भगवान्को पुकारना, उनके लिये रोना तो दूर रहा, उनके प्रिय आह्वानतकको नहीं सुनते या सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। जो हमारे आत्माके भी आत्मा हैं, प्राणोंके भी प्राण हैं, जिनसे बढ़कर कोई प्रियतम नहीं है, वे हमसे दूर नहीं हैं। हम उन्हें प्राणमें भी निहार न सकें, अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरणोंको पखार न सकें—यह कितने दुःखकी बात है। उन्होंने गोपियोंको भी विरह दिया था, इसलिये कि मुझमें उनका निरन्तर प्रेम बढ़ता रहे। हमें भी यह विरह इसलिये मिला है कि हम प्रभुसे मिलनेके लिये रोयें, तड़पें, अश्रुओंके मौक्तिक हारसे उनकी सादर अर्चना करें और पुकारकर कहें—

परमकारुणिको न भवत्परः परमशोच्यतमो न हि मत्परः।
इति विचिन्त्य हरे मयि पामरे यदुचितं यदुनाथ तदाचर॥

'हे हरे! आपसे बढ़कर कोई परम दयालु नहीं है और मुझसे बढ़कर कोई शोचनीय नहीं है। यदुनाथ! ऐसा समझकर मुझ पामरके लिये जो उचित हो, वह कीजिये।'

दीर्घाण्यघान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हानिर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि
हा! निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पाम्॥

'भगवन्! आषाढ़ मासके दिनकी भाँति मेरे पाप बढ़ते चले जाते हैं, शरद्-ऋतुकी नदीके जलकी तरह शारीरिक शक्ति क्षीण होती जा रही है, दुष्टोंद्वारा किये हुए अपमानके समान दुःख मेरे लिये दुःसह हो गये हैं। हाय! मैं सब तरहसे असमर्थ हूँ, अशरण हूँ; दयामय! मुझपर कृपा कीजिये।'

अज्ञस्तावदहं न मन्दधिषणः कर्तुं मनोहारिणी-
श्चाटूक्तीः प्रभवामि यामि भवतो याभिः कृपापात्रताम्।
आर्तेनाशरणेन किन्तु कृपणेनाक्रन्दितं कर्णयोः
कृत्वा सत्वरमेहि देहि चरणं मूर्धन्यधन्यस्य मे॥

'स्वामिन्! मैं अज्ञानी हूँ, मेरी बुद्धि मन्द है; अतः मैं वैसी मनोहारिणी चिकनी-चुपड़ी बातें नहीं कर सकता, जिनसे आपका कृपापात्र बन सकूँ। मैं तो आर्त हूँ, अशरण हूँ और दीन हूँ; मैंने केवल क्रन्दन किया है। आप इस क्रन्दनपर ही ध्यान देकर शीघ्र दर्शन दीजिये और मुझ भाग्यहीनके मस्तकपर अपने चरण रखिये।'

शरणमसि हरे प्रभो मुरारे जय मधुसूदन वासुदेव विष्णो।
निरवधिकलुषौघकारिणं मां गतिरहितं जगदीश रक्ष रक्ष॥

'हरे! मुरारे! प्रभो! एकमात्र आप ही मेरे आश्रय हैं। मधुसूदन! वासुदेव! विष्णो! आपकी जय हो। नाथ! मुझसे निरन्तर असंख्य पाप होते रहते हैं, मुझे कहीं भी गति नहीं है। जगदीश! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।'

इस प्रकार सच्चे मनसे रोकर, कातर पुकार करनेसे मंगलमय भगवान् अवश्य सुनते हैं।

३—सर्वत्र एवं सबमें ईश्वरको देखनेका उपाय

शास्त्रोंमें सिद्ध है कि भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। महात्माओंका भी ऐसा ही अनुभव है। उपनिषदोंमें कहा है— '**तज्जलानिति शान्त उपासीत।**' अर्थात् परमात्मासे ही जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, उसीमें इसका लय होता है और उसीमें रहकर यह जीवन धारण करता है—इस प्रकारसे शान्तभावसे विचार करे। जो वस्तु जिससे उत्पन्न होकर पुनः उसीमें लीन होती है, वह तद्रूप ही होती है—जैसे घड़ा मिट्टीसे बनता, मिट्टीमें ही रहता और फूटनेपर मिट्टीमें ही लीन होता है; अतः वह मिट्टी ही है। इसी प्रकार जब सब कुछ परमात्मासे ही उत्पन्न होता और उसीमें लीन होता है, तब वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। जैसे घड़ा मिट्टीका, कनककुण्डल आदि स्वर्णका रूपान्तर है, उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्मका ही रूपान्तर है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही सब कुछ है। इसीलिये शास्त्र कहते हैं— '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**', '**नेह नानास्ति किञ्चन**', '**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।**'

भक्तिके सिद्धान्तसे भी सब कुछ भगवान्‌का ही स्वरूप है; क्योंकि वे ही सबके अन्तरात्मा हैं, समस्त जड-चेतनमें, घट-घटमें व्यापक हैं—***'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी'***, ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'***, ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'*** आदि वचनोंमें इसी सत्यका दर्शन कराया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—ये सब-के-सब—भगवान्‌के

शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं—यह सोचकर जड-चेतन जो कोई भी सामने हो उसको अनन्यभावसे प्रणाम करे।'

जब सब कुछ भगवान्में ही है, सब रूपोंमें भगवान् ही प्रकट हैं तथा सबके भीतर भगवान् ही विराजमान हैं, तब कौन-सा ऐसा देश और काल है, जो भगवान्से पृथक् हो। देश और काल भी तो भगवान् ही हैं। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जानेपर सबमें सर्वत्र और सर्वदा भगवान्के ही दर्शन होते हैं। ऐसी दृष्टिवाले पुरुषसे भगवान् छिपे नहीं रह सकते। गीतामें वे स्वयं ही कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

४—ईश्वरके अनन्य शरण कैसे हों?

आप लिखते हैं—'मुझ-जैसा पामर जीव कैसे भगवान्के शरण हो सकता है? इस प्रकार भगवच्छरणागतिकी हार्दिक अभिलाषाका जाग्रत् होना भी भगवान्की ओर जानेमें सहायक होता है। पामर वही है जो भगवान्से विमुख है और साधु वही है, जो भगवान्की ओर सच्चे हृदयसे बढ़ना चाहता है। भगवान् कहते हैं—

'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।'

'पापी नराधम मूढ़ मनुष्य मेरी शरणमें नहीं आते।' अत्यन्त पापी होनेपर भी जो अनन्यभावसे भजनमें लग जाता है, वह साधु ही है—

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः ....॥'

क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है— **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'** भगवान् उसके पापोंका नाश करके स्वयं

उसे शरणमें ले लेते हैं। ***'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'*** भगवान्‌की शरणमें जानेके तीन मुख्य साधन हैं— (१) भगवान्‌के नामोंका प्रेमपूर्वक जप, (२) बुरे कर्मोंका सर्वथा त्याग, (३) भगवान्‌की अहैतुकी दयापर पूर्ण विश्वास। यह सब होता रहे तो भगवान् अवश्य और शीघ्र ही अपनाते हैं।

संसारी मनुष्य अपनी इन्द्रियों और शरीरके समस्त अंगोंसे विषयोंका ही स्पर्श तथा अनुभव करता है, किन्तु जो भगवान्‌के शरणागत हो चुका है उसकी स्थिति कुछ दूसरी ही होती है। उसकी समस्त इन्द्रियोंके विषय केवल भगवान् ही रहते हैं। वह नेत्रोंसे केवल भगवान्‌की ही झाँकी करना चाहता है और करता भी है। कानोंसे उन्हींका मधुर-मंगलमय नाम, लीला तथा गुणोंकी चर्चा सुनता और सुनना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय तथा प्रत्येक अंगोंसे वह भगवान्‌की ही प्राप्ति, भगवान्‌का ही स्पर्श तथा भगवान्‌की ही सेवा चाहता है। वह अपना सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर देता है। उसकी अहंता और ममता भी भगवान्‌के समर्पित हो जाती है। वह भगवान्‌के हाथोंका यन्त्र बन जाता है। भगवान् जैसे रखें, रहता है; जो करावें, करता है। वह अपने लिये कुछ नहीं सोचता, कुछ नहीं करता। उसकी प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की इच्छासे ही होती है, भगवान्‌के लिये ही होती है। सुख हो, दुःख हो, हानि हो, लाभ हो—उसकी दृष्टिमें सब कुछ भगवत्प्रसाद है। यह स्थिति धीरे-धीरे आती है, किन्तु यही शरणागतिका आदर्श है।

(११)

बालगोपालका पूजन

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला, धन्यवाद। 'कल्याण' पढ़नेसे आपके मनका झुकाव भगवान्‌की ओर हुआ, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। अब आप सब प्रकारके प्रपंचसे अलग रहकर श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें ही संलग्न रहना चाहते हैं, यह बहुत उत्तम विचार है, इसके लिये भगवान्‌से ही प्रार्थना कीजिये। वे ही आपके लिये उचित एवं अनुकूल व्यवस्था कर सकते हैं। आपके हृदयकी सच्ची पुकार होगी तो दयामय भगवान् अवश्य सुनेंगे।

सबसे अच्छी बात तो यह है कि भगवान्‌का भजन-पूजन केवल भगवान्‌के लिये ही किया जाय, किसी तुच्छ लौकिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये कदापि नहीं। किन्तु जब जीवननिर्वाह होना भी कठिन हो जाय, तब जगत्‌के स्वार्थपरायण मनुष्योंके समक्ष हाथ फैलानेकी अपेक्षा भगवान्‌से ही याचना करना अवश्य उत्तम है; क्योंकि वे दयामय हैं, दीनोंके दुःखोंको देखकर द्रवित होते हैं, उनके आँसुओंका मखौल नहीं उड़ाते। इसके सिवा उनका ऐश्वर्य अनन्त है, अक्षय है, उनके यहाँ किसी बातका अभाव नहीं है, उनका अक्षय भण्डार निरन्तर लुटाते रहनेपर भी कभी किंचित् भी न्यून नहीं होता। अगाध समुद्रकी भाँति सदा परिपूर्ण ही रहता है, उनसे— केवल उनसे ही भक्त ध्रुवकी भाँति एकनिष्ठाके साथ याचना करनेपर याचकता जल जाती है। भगवान्‌का याचक किसी अन्यके सामने हाथ नहीं फैलाता।

'जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे।'

अतः लौकिक अभावकी पूर्तिके लिये भी आपने '**कृष्णाय नमः**' इस पंचाक्षर मन्त्रके जपका जो निश्चय किया है, वह

बहुत उत्तम है। प्रतिदिन सूर्योदयसे पहले उठकर स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त हो, एकान्तमें शुद्ध आसनपर बैठकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्ठाके साथ जप करना चाहिये। सात्त्विक भोजन करना चाहिये। दिनमें उपवास या फलाहार उत्तम है। शामको सात्त्विक अन्नका सेवन करना चाहिये। मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखते हुए सदा भगवान्‌का चिन्तन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके पालनपर ध्यान रखना चाहिये। किसीसे अनावश्यक बातें न करके मौन रहना, दुष्ट-संगसे बचना और एकान्तमें रहना लाभदायक है।

अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, उत्तरा, हस्त, अनुराधा, श्रवण आदि नक्षत्र अनुष्ठान आरम्भ करनेके लिये उत्तम हैं। भद्रा और व्यतीपात आदि दोषोंसे बचना चाहिये। प्रातःकालका समय सर्वोत्तम है। तर्पणकी विधि पूछी, सो नित्यतर्पण तो सन्ध्या-वन्दनके साथ होता ही है। करनेकी विधि भी नित्यकर्मकी पुस्तकोंमें मिलती ही है। इस अनुष्ठानके मध्यमें तर्पणकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। हाँ, हवनके बाद तर्पण अवश्य होगा। इसमें तर्पणकी संख्या उतनी ही बतायी गयी है, जितनी कि हवनकी। यह हवन किसी विद्वान् ब्राह्मणकी देख-रेखमें कुछ अन्य ब्राह्मणोंके साथ स्वयं भी बैठकर करना चाहिये। हवनका अंगभूत तर्पण कैसे होता है, इसको हवन करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। हवनकी विधि भी आप अकेले नहीं कर सकते। अतः किसी अच्छे पण्डितकी सहायता लेनी होगी।

हवन करते समय मन्त्रोंके अन्तमें 'स्वाहा' अवश्य लगेगा। हवन स्वयं भी करे और पण्डितसे भी कराये। इसके जपमें मुख्य बात है मन्त्रकी पूजा, अंगन्यास, करन्यास और ध्यान। सो निम्न प्रकारसे करने हैं—

एक ताँबेके पात्रपर मन्त्र खुदवा लें अथवा शुद्ध पात्रमें चन्दन आदिके द्वारा स्वयं ही बना लें। बनानेकी विधि यह है कि पहले अष्टदल कमल बनाकर उसकी बिचली कर्णिकामें 'क्लीं' लिख दे, उसके चारों ओर चौकोर रेखा खींच दे, परन्तु सब ओर एक-एक द्वार अवश्य रखे।

यह गोपालयन्त्र कहलाता है। इसमें बालकृष्णका आवाहन, स्थापन आदि करके प्रतिदिन विधिपूर्वक षोडश उपचारोंसे पूजन करना चहिये।

अंगन्यासविधि

क्लां हृदयाय नमः। क्लीं शिरसे स्वाहा। क्लूं शिखायै वषट्। क्लैं कवचाय हुम्। क्लौं नेत्राभ्यां वौषट्। क्लः अस्त्राय फट्।

करन्यासविधि

क्लां अंगुष्ठाभ्यां नमः। क्लीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। क्लूं मध्यमाभ्यां वषट्। क्लैं अनामिकाभ्यां हुम्। क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

ध्यान

अव्याद्व्याकोषनीलाम्बुजरुचिररुणाम्भोजनेत्रोऽम्बुजस्थो
बालो जङ्घाकटीरस्थलकलितरणत् किङ्किणीको मुकुन्दः।
दोर्भ्यां हैयङ्गवीनं दधदतिविमलं पायसं विश्ववन्द्यो
गोगोपीगोपवीतो रुरुनखविलसत्कण्ठभूषश्चिरं वः॥

'भगवान् बालमुकुन्दके श्रीविग्रहकी कान्ति खिले हुए नील-कमलके समान श्याम है। उनके नेत्र सुन्दर लाल कमलके सदृश हैं। वे बालरूपमें कमलपर नृत्य कर रहे हैं, उनकी जाँघ और कटिभागमें करधनीकी मनोहर छन-छन ध्वनि हो रही है। वे एक हाथमें नवनीत और दूसरेमें अत्यन्त विमल खीर लिये हुए हैं। गौएँ, गोपाल और गोपियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हैं। उनके कण्ठमें बघनखाका आभूषण है। ऐसे विश्ववन्द्य गोपाल आपकी चिरकालतक रक्षा करते रहें।'

यहाँ अंगन्यास-करन्यासका मन्त्रमात्र दिया गया है। उसके करनेकी विधि वहीं किसी विद्वान्से समझ लें अथवा 'मानसांक' में अंगन्यास, करन्यास करनेकी जो प्रणाली बतायी गयी है, वैसे ही यहाँ भी है। अतः उसीके अनुसार कार्य करें। केवल मन्त्रमें अन्तर है। विधि वही है।

शेष सब बातें आपको 'कल्याण' से अवगत हो ही गयी होंगी।

पर असल बात तो यह है कि सांसारिक लाभके लिये भगवान्के भजन-पूजनका उपयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है। यहाँकी कोई चीज मिल भी गयी तो क्या होगा। आखिर तो, वह अनित्य ही है। फिर क्या लाभ हुआ। वही भजन-पूजन यदि विशुद्ध भावसे केवल भगवान्के लिये होता तो भगवान्की प्राप्ति होती, जो मानव-जीवनका परम ध्येय है और जो केवल मानवजन्ममें ही साध्य है। यदि हमने उसके बदलेमें अपने जीवनको सांसारिक अभावोंकी पूर्तिके साधनमें ही खो दिया तो हमें जीवनके परम और चरम लक्ष्यसे वंचित रहना पड़ेगा।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

इसलिये जहाँतक हो, विचारकर भगवान्का भजन-पूजन केवल श्रीभगवान्के लिये ही कीजिये। इसीमें बुद्धिमानी है और इसीमें जीवनकी सार्थकता है।

(१२)

परम कल्याण

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्र बड़े महत्त्वका है। उसके जपसे अवश्य कल्याण हो सकता है। प्रतिदिन अधिक-से-अधिक जितना हो जाय, उतना प्रेमपूर्वक जपना चाहिये। यह बताना कठिन है कि कितने दिनोंमें परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। यदि परम कल्याणका अर्थ है—भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार, तब तो यह साधककी अवस्थापर निर्भर है। अन्यथा जप करनेवालेका परम कल्याण तो अव्यक्तरूपसे होता ही रहता है। प्रतिक्षण होता है। जिस साधकका भगवान्‌में जितना अधिक प्रेम होगा, जो प्रभुके दर्शनके लिये जितना ही आकुल-व्याकुल होगा, उतना शीघ्र उसे भगवान्‌का दर्शन मिल सकता है। यह साधकके अधीन नहीं भगवान्‌की कृपाके अधीन है। आर्तभावसे पुकारनेपर शीघ्र कृपा होती है।

(१३)

मन्त्र और मूर्तिपूजा

सादर हरिस्मरण।........**ॐ नमो नारायणाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** का जप कर सकते हैं और सभी जप स्नानादिके बाद शुद्धतापूर्वक ही करने चाहिये। वैश्यगायत्री मुझे मालूम नहीं है। वह ब्राह्मण-गायत्रीसे भिन्न तो होगी ही। परन्तु मेरे विचारसे तो जिसे ब्राह्मण-गायत्री कहते हैं, उसीको यज्ञोपवीत-संस्कारयुक्त तीनों वर्णवालोंको जपना चाहिये। गायत्रीके जो अनेक भेद किये गये हैं, वे प्राचीन नहीं हैं, पीछेके महानुभावोंने किये हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

इस मन्त्रको मूलमन्त्र कहते हैं। रामायणमें राम-नामको ही मूलमन्त्र कहा गया है। इसीका जप श्रीशंकरभगवान् करते हैं।

इष्ट-मूर्तिमें धातु-बुद्धि नहीं होनी चाहिये। उसे साक्षात् इष्टदेव ही समझना चाहिये। मूर्तिमें ऐसा भाव होना साधनमें उत्कर्षका चिह्न नहीं है। यह तो अपराध ही है। हमारा शरीर प्रत्यक्ष ही हड्डी-मांसका बना हुआ है। परन्तु इसमें तो हमारी यह बुद्धि नहीं होती। यदि ऐसी बुद्धि हो तो इसके मानापमानसे हमें क्यों दुःख हो। इसे सजानेकी हमें क्यों इच्छा हो। फिर भगवत्-प्रतिमामें ऐसा भाव होना किस प्रकार उचित हो सकता है। उसे भी भगवान्‌का शरीर ही समझना चाहिये। वैदिक मन्त्रोंद्वारा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, तबसे भगवान् उसमें सर्वदा निवास करते हैं। इससे आगेकी बात तो यह है कि सभीको भगवद्रूप समझें। संसारमें जड कोई भी वस्तु न रहे। सारे संसारके रूपमें श्रीभगवान् ही क्रीडा कर रहे हैं। इस प्रकार जिसे चर-अचर सभी जीवोंमें

भगवद्बुद्धि हो जाती है, उसको अपने लिये अलग प्रतिमा-पूजनकी उतनी आवश्यकता नहीं है। जबतक यह दृष्टि प्राप्त न हो, तबतक तो किसी एक स्थानमें भगवान्‌की विशेष सत्ताका अनुभव करते हुए उपासना करनी ही चाहिये।

विषयोंका बन्धन मनुष्यको नरककी ही ओर ले जाता है। इसलिये यथासम्भव चित्तको विषय-वासनाओंसे अलग रखना चाहिये। इसके लिये निरन्तर सत्संग, सद्विचार, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवान्‌के नामका जप करनेकी आवश्यकता है। यह सब करते रहनेपर धीरे-धीरे चित्त विषय-वासनाओंके बन्धनसे छूट जाता है। यदि यह सब करना आपके लिये सम्भव न हो तो दूसरा विवाह ही कर लेना अच्छा है।

यज्ञ कई प्रकारके होते हैं। अन्न-यज्ञमें प्रधानतया अतिथिसेवारूप नृयज्ञ और बलिवैश्वदेवरूप भूतयज्ञ ही लिये गये हैं। नित्य पहले किसी अतिथिको भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करना अतिथियज्ञ है। अतिथि उसे कहते हैं, जो भोजनके समय स्वयं ही आ जाय—जातिसे चाहे वह कोई हो। इसके लिये ऐसा नियम है कि भोजन तैयार होनेपर पहले बलिवैश्वदेव करे। बलिवैश्वदेवकी विधि आप किसी पण्डितसे मालूम कर लें या कुछ पैसेमें गीताप्रेससे मँगा लें। उसके बाद कम-से-कम आधा घण्टा दरवाजेपर किसी अतिथिकी प्रतीक्षा करें। यदि आ जाय तो उसे खिलाकर नहीं तो बिना खिलाये भी भोजन कर सकते हैं। निमन्त्रित या अपना कोई रिश्तेदार अतिथिकी कोटिमें नहीं होते। अतिथिसेवाके बाद जो अन्न बच रहता है, उसे यज्ञशेष कहते हैं।

सिद्धासनका तरीका इस प्रकार है—बायें पैरकी एड़ी,

गुदा और अण्डकोषके बीचमें सीवनपर लगाये तथा दायें पैरकी एड़ी टूँडीके नीचे लगाकर सीधा बैठ जाय।

अपने घरकी आपने जो स्थिति लिखी है वैसी प्रायः सभी घरोंमें होती है। सब लोगोंके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। चतुरता इसीमें है कि उन्हें सन्तुष्ट रखते हुए अपना काम किया जाय।

(१४)

दुर्गा और सरस्वतीकी उपासना

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! उत्तरमें निवेदन है कि श्रीदुर्गाजीका 'दुर्गा' नाम ही ढाई अक्षरका है। इसका जप आप हर समय कर सकते हैं। प्रतिदिन स्नान-सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठकर मालाद्वारा जप करना चाहिये। जितना आप अधिक-से-अधिक प्रेमपूर्वक जप कर सकें, उतना ही अच्छा है—'**अधिकस्याधिकं फलम्।**' इसके जपकी कोई नियमित संख्या या विशेष विधि नहीं है।

'सरस्वती' का बीज-मन्त्र 'ऐं' है। यह सबसे छोटा मन्त्र है। सरस्वतीजीका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करनेसे उनकी कृपा प्राप्त होती है। श्रीदेवीभागवतमें इसकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। सुदर्शनने इसीके जपसे सरस्वतीका प्रत्यक्ष दर्शन और दुर्लभ वरदान प्राप्त किया था।

प्रत्येक कामनाकी पूर्ति करनेवाले हैं स्वयं श्रीभगवान्; अतः प्रेमपूर्वक उन्हींका नाम जपना चाहिये—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

अर्थात् 'कोई कामना न हो अथवा सब प्रकारकी कामनाएँ हों या मोक्षमात्रकी अभिलाषा हो, मनुष्य तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान्की आराधना करे।' अतः प्रत्येक कामनाकी पूर्तिका उपाय है—भगवान्की अटल भक्ति और भगवान्के नामोंका निरन्तर जप।

वशीकरणकी विधि मेरे पास नहीं है। वशीकरणका प्रयोग सीखना या करना भी नहीं चाहिये। कोई पुरुष किसी स्त्रीको वशमें करनेके लिये यदि इसका प्रयोग करता है तो वह पाप करता है। यदि किसी मनोरथकी सिद्धिके लिये देवताको वशमें करना हो तो वह उस देवताकी अथवा साक्षात् भगवान्‌की आराधनासे ही साध्य है। इसके लिये वशीकरणका प्रयोग करना निरर्थक है। भगवान्‌पर वशीकरण नहीं चलता। वे तो प्रेमसे ही वशमें होते हैं अथवा स्वयं कृपा करके ही भक्तकी इच्छा पूरी करते हैं। भगवान्‌को वशमें करनेके लिये 'ढाई' अक्षरका 'प्रेम' ही समर्थ है। शेष भगवत्कृपा।

(१५)

दीक्षा और शक्तिसंचार

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिल गया था। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपने मानस-दीक्षा, शक्तिसंचार तथा स्पर्शादि तान्त्रिक दीक्षाओंके सम्बन्धमें पूछा सो यद्यपि इनका मुझे पूरा ज्ञान नहीं है, तथापि शास्त्राध्ययन आदिके आधारपर कुछ बातें सेवामें निवेदन करता हूँ। वायवीय संहिता और कुलार्णवतन्त्रमें शाम्भवी दीक्षाके सम्बन्धमें लिखा है—

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोर्दीक्षा सा शाम्भवी मता॥

(वायवीय संहिता)

गुरोरालोकमात्रेण भाषणात् स्पर्शनादपि।
सद्यः संजायते ज्ञानं सा दीक्षा शाम्भवी मता॥

(कुलार्णवतन्त्र)

'गुरुकी दृष्टि, स्पर्श और भाषणमात्रसे जो तुरन्त एक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीका नाम शाम्भवी दीक्षा है।'

'गुरुकी दृष्टि, भाषण और स्पर्शादि-मात्रके द्वारा जो तुरन्त एक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे शाम्भवी दीक्षा माना गया है।'

इसीको वेधदीक्षा और मानसदीक्षा भी कहते हैं। शक्तिसंचारके लिये ही 'स्पर्शदीक्षा', 'दृग्दीक्षा' और 'मानसदीक्षा' का प्रयोग होता है।

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्द्धयेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशश्च तादृशः कथितः प्रिये॥
स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः कथितः प्रिये॥

यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशश्च मानसः स्यात् तथाविधः॥

जैसे पक्षी अपनी दोनों पाँखोंसे स्पर्श करके धीरे-धीरे अण्डेके अन्दर रहनेवाले बच्चोंका संवर्धन करते हैं, वैसे ही गुरु अपने स्पर्शद्वारा शिष्यकी सोयी हुई शक्तिको जगाकर उसे समृद्ध करते हैं, इसीको 'स्पर्शदीक्षा' कहते हैं। जैसे मछली केवल देख-देखकर ही अपने छोटे बच्चोंका पोषण करती है, वैसे ही गुरु केवल दृष्टिके द्वारा ही शिष्यमें शक्तिका संचार करते हैं। इसको 'दृग्दीक्षा' नामक उपदेश कहते हैं। और जैसे कछुआ केवल मनसे बार-बार ध्यान करके ही जमीनके अन्दर अण्डोंमें पड़े हुए बच्चोंका पोषण करता है वैसे ही गुरु केवल मनके द्वारा ही शिष्यकी शक्तिको जगा देते हैं। इसको 'वेधदीक्षा' या 'मानसदीक्षा' नामक उपदेश कहते हैं।

जैसे पिताका शुक्रविन्दु माताके रजके साथ मिलनेसे समयपर सन्तानकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही सुयोग्य शिष्यमें जब गुरुशक्ति संचरित होती है तब उसके अन्दर रही हुई शक्ति जाग उठती है और उससे समयपर ज्ञानरूपी शिशु उत्पन्न होता ही है।

गुरुके द्वारा 'वेधदीक्षा' सम्पन्न होनेपर शिष्यमें क्रमशः आनन्द, कम्प, आसनोत्थान, चक्र, निद्रा और मूर्छा—ये छः अवस्थाएँ प्रकट होती हैं—

आनन्दश्चैव कम्पश्चोद्भावो घूर्णा कुलेश्वरि।
निद्रा मूर्च्छा च वेधस्य षडवस्थाः प्रकीर्तिताः॥

शाक्तानन्दतरंगिणीमें कहा है कि शक्तिसंचारके द्वारा उत्तम मन्त्र-चैतन्य होनेपर आनन्द, अश्रुपात, रोमांच और देहावेश आदि लक्षण दिखायी पड़ते हैं—

आनन्दाश्रूणि पुलको देहावेशः सुरेश्वरि।
इत्येतत् कथितं देवि मन्त्रचैतन्यमुत्तमम्॥

इसके अतिरिक्त समर्थ गुरु भक्ति तथा ज्ञानमार्गमें भी शक्तिसंचार किया करते हैं। अवश्य ही ऐसा होता है वहीं, जहाँ गुरु वस्तुतः शक्तिमान् हों, शक्तिपात करना जानते हों और शिष्य शक्तिपात संग्रहण करनेका अधिकारी हो। अनधिकारी गुरु शक्तिपात नहीं कर पाता; क्योंकि वह जानता ही नहीं और अनधिकारी शिष्यमें शक्तिपात करनेसे वह उसे ग्रहण नहीं कर पाता। फलतः कहीं-कहीं तो छोटे बच्चेपर अधिक बोझ लाद देनेसे जैसे उसका अनिष्ट होता है, वैसे ही शिष्यका अनिष्ट भी हो जाता है।

साधारण शक्तिपातका तरीका यह है कि सेवा, अनुकूल आचरण और मधुर सम्भाषणके द्वारा साधक गुरुकी प्रसन्नता प्राप्त करता रहे। गुरु प्रसन्न होकर जब-जब शिष्यको स्वाभाविक आशीर्वादमयी स्निग्ध दृष्टिसे देखते हैं, जब-जब कृपापरवश होकर उसका स्पर्श करते हैं और जब-जब उसका स्मरण करते हैं, तब-ही-तब गुरुकी शक्तिका शिष्यमें संचरण होता है। गुरुकी शक्ति तथा शिष्यके अधिकारके तारतम्यके भेदसे लाभ न्यूनाधिक भले ही हो, परन्तु होता है अवश्य।

भगवान्के द्वारा भी अधिकारी साधकको शक्ति प्राप्त होती है। वह होती है विशुद्ध श्रद्धासम्पन्न हृदयकी सरल प्रार्थनाके द्वारा। प्रत्येक साधक इससे लाभ उठा सकता है। कभी-कभी तो प्रार्थनाद्वारा ऐसी शक्ति साधकको प्राप्त हो जाती है कि वह स्वयं आश्चर्यमें डूब जाता है। ध्रुवादिमें भगवत्कृपासे ही शक्तिका संचार हुआ था।

वर्तमान कालमें शक्तिसम्पन्न गुरु जैसे विरले ही मिलते

हैं, वैसे ही अधिकारी शिष्य भी बहुत ही थोड़े रह गये हैं। इसलिये शक्तिपातका प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता।

मेरी समझसे तो आपको भगवत्कृपाका आश्रय लेकर सरल शुद्ध भावसे भगवन्नामका जप और भगवान् श्रीकृष्णके श्यामसुन्दर मदनमोहन कुमार रूपका ध्यान करना चाहिये। आपकी प्रकृतिके अनुसार आपको इसीसे लाभकी सम्भावना प्रतीत होती है।

(१६)

रासलीला निर्दोष है

सप्रेम हरिस्मरण। श्रीमद्भागवतमें रासके पश्चात् राजा परीक्षित्ने जो शंका की है, उसको तो आपने ग्रहण कर लिया है; परन्तु समाधानके अंशको भलीभाँति नहीं पढ़ा है। उसमेंसे एक अंशको लेकर आपने असन्तोष प्रकट किया है। मेरा निवेदन है कि आप श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके अध्याय ३३ में ३० से ४० तकके श्लोकोंके भावको भलीभाँति हृदयंगम करें।

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी परमेश्वर हैं, सबके आत्मा हैं; वे समस्त विश्वब्रह्माण्डोंके समस्त स्त्री-पुरुषोंके भीतर रम रहे हैं। वे ही स्त्री हैं और वे ही पुरुष हैं। वे एक साथ सहस्रों और लाखों रूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी ह्लादिनी शक्तिसे आविर्भूत आत्मस्वरूपा श्रीगोपियोंके साथ ही रास करते हैं। उनका यह दिव्य रास नित्य-निरन्तर चलता रहता है और उसी परम मधुर आनन्द-रस-सागरकी एक क्षुद्रतम बूँदका आभास पाकर जगत्के समस्त प्राणी आनन्दकी अनुभूति करते हैं। भगवान्के लिये न तो कोई अपना है, न पराया; भगवान्से मिलनेका सौभाग्य उसी जीवको प्राप्त होता है, जो अनन्त जन्मोंकी साधनासे भगवत्कृपा-प्रसादका अधिकारी बन चुका है। श्रीगोपांगनाओंने यह अधिकार प्राप्त किया था। उनमें श्रुति, देवी, ऋषि-मुनि आदि सभी सम्मिलित होकर पवित्रतम गोपीभावके दिव्य मधुर रसका समास्वादन कर अपने जन्म और जीवनको धन्य करते थे। क्या संसारके दुष्ट प्राणी या दुराचारी मनुष्य भगवान्की इस परम दिव्य लीलाका अनुकरण कर सकते हैं? क्या उनमें भी वे सभी अलौकिक बातें सम्भव हैं, जो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णमें हैं? यहाँ मैं श्रीशुकदेवजीके समाधानमेंसे दो-तीन श्लोक उद्धृत करता हूँ—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३६—३८)

अर्थात् 'गोपियोंके, उनके पतियोंके तथा सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तःकरणमें जो आत्मारूपसे विराजमान हैं, जो सबके साक्षी एवं परम पति हैं, वे ही भगवान् लीलाके लिये यहाँ दिव्य चिन्मय मंगल विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्य-शरीरका आश्रय लेते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनका श्रवण करके जीव भगवत्परायण हो जायँ। व्रजवासी गोपोंने भगवान् श्रीकृष्णमें तनिक भी दोषदृष्टि नहीं की। वे उनकी योगमायासे प्रभावित थे, उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि उनकी पत्नियाँ उन्हींके पास सो रही हैं।'

इन पंक्तियोंमें भगवान्‌के स्वरूप, उनकी लीलाकी दिव्यता, लीलाके मंगलमय उद्देश्य तथा श्रीभगवान्‌के अचिन्त्य माहात्म्यपर प्रकाश पड़ता है। गोपांगनाओंके स्थूल शरीर पतियोंके पास थे, वे पवित्र रस-भावमय देहसे भगवत्-मिलनका दिव्य आनन्द प्राप्त कर रही थीं। आत्मा और परमात्माका मिलन दिव्य देहसे ही सम्भव है। वहाँतक स्थूल शरीरकी पहुँच कहाँ? आप श्रीभगवान्‌के स्वरूपको तथा गोपियोंके तत्त्वको समझें और रासलीलाकी दिव्यतापर दृष्टि रखें। आपको पता लगेगा इसमें लौकिक कामक्रीड़ाकी गन्ध भी नहीं है।

(१७)

भगवत्प्राप्तिके लिये तीव्र विरहतापकी आवश्यकता

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भगवान् श्रीकृष्णके लिये मनमें अत्यन्त तीव्र इच्छा होनी चाहिये। ऐसी आग भड़क उठनी चाहिये जो श्रीकृष्णके अजस्त्र दर्शनवारिके बिना कभी किसी प्रकार शान्त हो ही नहीं। ऐसी मार्मिक पीड़ा होनी चाहिये जो केवल श्रीकृष्ण-वैद्यकी मिलन-ओषधिसे ही दूर हो। मीराने गाया था—***'मीराकी तब पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय।'*** हमलोग तो भगवत्प्राप्तिकी वैसी ही इच्छा करते हैं, जैसे कोई बालक किसी दूसरेके मुँहसे किसी खिलौनेकी प्रशंसा सुनकर अपने दस खिलौनोंके साथ उसे भी रखना चाहता है और पिता-मातासे उसे मँगवा देनेके लिये आग्रह करता है। अथवा जैसे कोई शौकीन मनुष्य अपने घरमें सजावटके दूसरे सैकड़ों पदार्थोंके साथ-साथ भगवान्‌के चित्र भी रखना चाहता है। वस्तुतः ऐसी चाहसे भगवान् नहीं मिलते! उनके लिये तो हृदयमें ऐसा तीव्र ताप होना चाहिये कि जिसके कारण क्षणभरके लिये भी चैन न पड़े। तीव्र विरहवेदनामें किसी दूसरी वस्तुका नाम भी नहीं सुहावे—कहीं किसी भी स्थिति या पदार्थमें मन नहीं टिके। दिन-रात उन्हींका चिन्तन हो, उन्हींका स्मरण हो और पल-पलमें उनके उद्देश्यसे सर्वस्वत्यागके लिये—बड़े-से-बड़े बलिदानके लिये चित्तमें सुखभरी उमंगें उठती रहें। कबीरजी कहते हैं—

सीस उतारे भुइँ धरै तापै राखै पाँउ।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होइ तो आउ॥

परन्तु वह भगवान्‌का विरही तो निरन्तर सिरको हाथमें लिये ही फिरता है—कहता है, ***'जो सिर साटै हरि मिलै तो तेहि लीजे दौरि।'*** सिरका मूल्य तो उसे बहुत सस्ता जान पड़ता है।

ऐसी लगन हो जानेपर भगवान्‌की प्राप्तिमें देर नहीं होती। ऐसी लगन होती कहाँ है। हम कहते हैं कि हमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है—पर उसके लिये जहाँ त्यागका प्रश्न आता है, वहाँ तुरन्त पीछे हट जाते हैं। हम तो सब कुछको बचाकर, सब कुछको बढ़ाकर उन्हींके साथ भगवान्‌को भी रखना चाहते हैं। भगवान्‌की विरहाग्निमें जलता हुआ मनुष्य 'सब कुछ' को क्या समझेगा। उसके सारे 'सब कुछ' को तो विरहाग्नि सुलगते ही जला डालती है। उसका अपना कुछ रहता ही नहीं। वह सर्वथा अकिंचन होता है और होता है एकमात्र प्रभु-दर्शनका भिखारी। पल-पलमें उसके हृदयमें हूक उठती है और वह उसे सह नहीं सकता। उसमें ऐसी चरम श्रेणीकी परम व्याकुलता निरन्तर जगी रहती है, जो एकमात्र प्रियतम भगवान्‌के सिवा और किसीके स्मरणकी कल्पना या संस्कारको भी नहीं रहने देती। वह अनन्य-प्रेमिकाकी भाँति प्रतिपल अपने प्राणप्रियके मिलनके लिये अभिसारको प्रस्तुत रहता है। संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभन और बड़े-से-बड़े भय भी उसको उसके लक्ष्यसे—उसके पथसे तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। वह संसारके भोगोंको तृणवत् समझकर उनका त्याग कर देता है और उसमें जो विरह-सन्ताप है, उसके सामने कोई भय तो उसके समीप आकर खड़ा ही नहीं हो सकता। उस भयानक सन्तापसे सारे जागतिक भय सदा भयभीत रहते हैं।

आपके मनमें भगवान्‌को पानेकी लालसा है, यह बड़ी ही शुभ बात है, यही लालसा मानव-जन्मको सार्थक करती है। इस लालसाको इतनी बढ़ाइये कि अन्य सारी लालसाएँ इसमें आकर अपने अस्तित्वको खो दें। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कामाग्नि इतनी प्रबल होनी चाहिये कि जिसमें अन्य सारी कामनाएँ जल जायँ। एकमात्र भगवत्प्राप्तिकी ही अनन्य और तीव्र कामना रह जाय। श्रीमद्भागवतमें वृत्रासुरके बड़े ही सुन्दर वचन हैं, वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराःक्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(६। ११। २५-२६)

'प्रियतम! मैं तुमको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकच्छत्र राज्य, योगकी दुर्लभ सिद्धयाँ— यहाँतक कि पुनः जन्म न देनेवाला मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके पंखहीन छोटे बच्चे अपनी माँकी आतुरतासे बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ—गैयाका दूध पीनेके लिये व्याकुल रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने परदेश गये हुए प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है— वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन तुम्हारे दर्शनके लिये छटपटा रहा है।'

संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या, दुर्लभ देवराज्यके भोग और कैवल्य-मोक्षका त्याग भी जो अनायास कर सकता है, वही भगवान्‌को अति शीघ्र प्राप्त करता है। इसी आदर्शको सामने रखकर

भगवत्प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको त्यागके लिये तैयार हो जाना चाहिये। और ऐसा सर्वस्व-त्याग कोई बहुत बड़ी बात भी नहीं है, क्योंकि भगवान्‌की प्राप्तिका महत्त्व इससे अनन्तगुना अधिक है। बड़े महत्त्वकी, अमूल्य वस्तुके लिये साधारण वस्तुओंका त्याग सहज ही हो जाता है। और भगवान्‌के सामने सभी कुछ साधारण है, नगण्य है। असलमें भगवान्‌के समान अमूल्य वस्तु किसी भी मूल्यपर नहीं मिल सकती। उसकी प्राप्ति तो केवल उनकी कृपासे ही होती है। पर जो उनका महत्त्व नहीं समझता, वह सबपर भगवान्‌की अनन्त कृपा होनेपर भी उस कृपासे वंचित ही रहता है, इसीलिये वह न तो सांसारिक वस्तुओंका त्याग कर सकता है और न उसके अन्दर भगवत्प्राप्तिकी अनन्य और तीव्र इच्छा ही जाग्रत् होती है। अतएव भगवान्‌का महत्त्व समझना आवश्यक है। महत्त्व समझमें आ जानेपर त्याग सहज ही हो जायगा। महत्त्व जाननेके लिये सत्संग और भजनकी आवश्यकता है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

यथार्थ भजनके बिना प्रेम सम्भव नहीं और प्रेमके बिना भगवान्‌का यथार्थ महत्त्व समझमें नहीं आता। इसलिये सत्संग-भजनहीन मनुष्यका जीवन व्यर्थ तो होता ही है—पशु-जीवनसे भी गया-गुजरा होता है। और ऐसा मनुष्य जीवनभर नारकी यन्त्रणा भोगता हुआ शरीर-त्यागके बाद भी पुनः प्रत्यक्ष नरकोंमें जाकर वहाँकी असह्य यन्त्रणाको भोगता है। बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो इस बातको समझ ले और जीवनको सत्संग-भजनमें लगाकर उत्तरोत्तर प्रबल लालसाके साथ भगवान्‌की ओर बढ़ता रहे। विशेष भगवत्कृपा।

(१८)

हृदयकी सच्ची तड़प ही भगवान्‌को पानेका साधन है

सादर हरिस्मरण। आपको 'प्यारे रामसे मिलनेकी तड़प है'—यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। मुझे तो उन्हें पानेका इस 'तड़प' से बढ़कर और कोई उपाय मालूम नहीं है। पर यह पढ़कर मुझे आश्चर्य ही होता है कि प्रियतमका ऐसा सच्चा अनुराग पाकर भी आप योगी गुरुका आश्रय लेना चाहते हैं। क्या वियोगसे बढ़कर भी कोई योग है? योगिनी गोपियोंने तो प्रियतमके भेजे हुए योगी गुरु उद्धवको भी वियोगी बना दिया था। हठयोग या राजयोग तो प्रेमशून्य साधकोंके लिये है। प्यारे श्यामसुन्दर भी गीतामें श्रद्धालु भक्तको ही सबसे बड़ा योगी बताते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

अर्थात् 'समस्त योगियोंमें भी मैं उसीको सबसे बड़ा योगी मानता हूँ जो मुझमें मन लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है।' अतः आप तो इस वियोगरूप योगका ही आश्रय लीजिये और प्यारे रामको ही अपना गुरु बनाइये। यदि उनकी इच्छा होगी तो वे आपको किसी लौकिक या अलौकिक गुरुके रूपमें प्रकट होकर किसी अन्य योगकी दीक्षा भी दे देंगे। आप स्वयं उनसे प्रेमके सिवा कोई दूसरा पन्थ और उनके सिवा कोई दूसरा पथ-प्रदर्शक क्यों मानते हैं? गुरुके

रूपमें तो स्वयं भगवान् ही आया करते हैं और उचित अवसर आनेपर वे स्वयं ही साधकको प्राप्त हो जाते हैं। किसीसे पूछताछ करके गुरुका पता नहीं लगाया जा सकता और सच मानिये तो मुझे किसी सिद्ध योगीका पता भी नहीं है।

मैंने आपको 'कृपा बनी रहे' यह शब्द इसीलिये लिखे थे कि मैं वास्तवमें भक्तोंकी कृपा चाहता हूँ। भक्त और भगवान्की कृपा ही मेरा एकमात्र आधार है। आप क्या हैं—यह मैं भी नहीं जानता, किन्तु जब आपको उनसे मिलनेकी 'तड़प' है, तो मेरी दृष्टिमें तो आप भगवान्के कृपापात्र ही हैं। भगवान्के कृपापात्रकी कृपा चाहना मेरा स्वभाव ही है। आपकी आयु अथवा योग्यता कुछ भी हो, मैं तो आपको भगवद्भक्तके रूपमें ही देखता हूँ। मैं क्या हूँ यह मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता। मैं तो अपनेको उन नटनागरके हाथका यन्त्र ही मानता हूँ, परन्तु ठीक यन्त्र भी बन सका हूँ या नहीं—यह तो वे ही जानें।

और अधिक क्या लिखूँ। आपको देनेयोग्य मेरे पास कोई नवीन भाव भी तो है नहीं। आपकी यह 'तड़प' यदि दिनोंदिन बढ़ती ही रहेगी तो एक दिन उन्हें इसे सफल बनानेके लिये प्रकट होना ही पड़ेगा। अतः आपको जो कुछ आवश्यकता हो, वह उन्हींके आगे रख दीजिये। अच्छा तो यह हो कि आप सारी आवश्यकताओं और सारे साधनोंको उनकी चरण-नख-चन्द्रिकापर निछावर करके केवल उन्हींकी आवश्यकताको अपने हृदयमें जाग्रत् कीजिये।

शेष भगवत्कृपा। पत्रोंका उत्तर देनेमें बहुत देरी हो गयी, इसके लिये क्षमा करें।

(१९)

उत्कट इच्छासे ही भगवत्प्राप्ति होती है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि भगवत्प्राप्तिका सबसे प्रथम और परम आवश्यक साधन है भगवत्प्राप्तिकी उत्कट इच्छा—ऐसी इच्छा कि जैसे प्याससे मरते हुए मनुष्यको जलकी होती है। इस प्रकारकी तीव्र और अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो जानेपर—जैसे प्यासेको जलका अनन्य चिन्तन होता है और जल मिलनेमें जितनी ही देर होती है, उतनी ही उसकी व्याकुलता बढ़ती है, वैसे ही भगवान्का अनन्य चिन्तन होगा और भगवान्के लिये परम व्याकुलता होगी। इससे सहज ही भगवान्की प्राप्ति हो जायगी। याद रखना चाहिये, भगवान् किसी कर्मके फलरूपमें नहीं प्राप्त होते, वे तो प्रबल और उत्कट इच्छा होनेपर ही मिलते हैं। ऐसी इच्छा होनेपर अपने-आप ही सारे कर्म उनके अनुकूल हो जाते हैं और उसकी प्रत्येक चेष्टा भक्ति बन जाती है। फिर वह यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रीय और खाना-पीना, सोना-उठना, चलना-फिरना, कमाना-खोना आदि लौकिक—जो कुछ भी करता है, सब स्वाभाविक ही भगवान्के लिये करता है। क्योंकि भगवान् ही उसके परम आश्रय, परम गति और परम प्रियतम होते हैं। उसकी सारी आसक्ति, ममता और प्रीति सब जगहसे सिमटकर एकमात्र अपने प्राण-प्राण श्रीभगवान्के प्रति ही हो जाती है। वह अनवरत उन्हींका स्मरण करता रहता है। भगवान् जब इस प्रकार उसकी व्याकुल इच्छाको देखते हैं, तब सहज ही आकर्षित होकर उसके सामने प्रकट हो जाते हैं और उसे

अपने अंकमें लेकर अपने हृदयसे लगाकर सदाके लिये निहाल कर देते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हो जाता हूँ, वह मुझे सहजमें ही प्राप्त कर लेता है।'

आपने लिखा कि 'मैं अपने जीवनका प्रत्येक कार्य भगवान्‌का समझकर ही करूँ—ऐसा क्योंकर हो सकता है?' इसके उत्तरमें पतिव्रता पत्नीका उदाहरण हमारे सामने है। वह पतिके चरणोंमें आत्मनिवेदन कर अपने पृथक् अस्तित्वको और अपनी पृथक् आवश्यकताको सर्वथा मिटा देती है एवं जीवनभर जो कुछ करती है, सब पति-सुखके लिये ही करती है। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देनेपर सहज ही उसका प्रत्येक कार्य भगवान्‌के लिये ही होता है। उसका कोई पृथक् प्रयोजन ही नहीं रह जाता। वह जीता है भगवान्‌के लिये और मरता है भगवान्‌के लिये। वह अपने प्रत्येक श्वासमें प्रत्येक चेष्टासे केवल भगवत्कार्य ही करता है। ऐसे आत्मसमर्पित भक्तका हृदय और उसका पवित्र शरीर भगवान्‌के निर्बाध लीलाक्षेत्र बन जाते हैं। उनके द्वारा भगवान्‌की ही लीला होती है। ऐसे भगवद्‌गतप्राण महात्मा ही भगवान्‌के सच्चे सन्देशवाहक होते हैं और अपने सहज सदाचरणोंके द्वारा अनायास ही जगत्‌के जीवोंको पवित्र भगवद्धाममें पहुँचानेका पावन प्रयास करते रहते हैं। उनकी मूक शिक्षासे जगत्‌का जैसा कल्याण होता है वैसा लाखों-

करोड़ों भाषणों, लेखों और प्रचार-कार्योंसे कदापि नहीं हो सकता।

आपने अपने लिये आवश्यक कार्य पूछा, सो सबसे बढ़कर आवश्यक कार्य आपके, मेरे तथा प्रत्येक मनुष्यके लिये यही है कि वह मानव-जीवनके परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको समझे और सावधानीके साथ तत्पर होकर उसीकी साधनामें संलग्न हो जाय।

(२०)

सच्ची चाहका स्वरूप

सादर हरिस्मरण। आपका ११ दिसम्बरका कृपापत्र मिला। आपने मेरे प्रति जो श्रद्धा और सद्‌भाव प्रकट किये हैं, यह आपके प्रेमकी बात है। मैं तो अपनेको इसका अधिकारी नहीं समझता। सम्पूर्ण चराचरके प्रेरक वे सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ही हैं। मुझसे भी वे ही किसी इच्छाकी पूर्ति करा रहे हैं। इससे यदि आपको आनन्द मिलता है तो आपको उन्हींका कृतज्ञ होना चाहिये और उन्हींके दर्शनकी लालसा बढ़ानी चाहिये।

आपने जो प्रश्न किये हैं, उनके विषयमें जैसे मेरे विचार हैं, नीचे निवेदन करता हूँ—

१—सच्ची चाहका स्वरूप यह है कि फिर चाही हुई वस्तुके बिना जीना कठिन हो जाता है। सच्ची चाहका रूप होता है अनिवार्य आवश्यकता। उस एक वस्तुके सिवा और किसीकी चाह तो बहुत पहले विदा हो जाती है। जब प्रेमी अपने इष्टके बिना रह नहीं सकता तो उसे दर्शन देना ही पड़ता है। फिर खाना-पीना, सोना-जगना, उठना-बैठना सभी भार हो जाता है। सच्ची चाह उत्पन्न होनेके बाद फिर दर्शनोंमें देरी नहीं लगती।

२—सच्ची चाह निष्काम होनी चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है? यदि हमें भगवान्‌से उनके सिवा कुछ और लेनेकी लालसा होगी तो वे उसे ही देंगे, अपनेको क्यों देंगे? पूर्वकालमें सकाम उपासना करनेवालोंको भी दर्शन हुए हैं। परन्तु इस प्रकारके दर्शन भगवत्प्रेमकी तत्काल वृद्धि नहीं करते। उन्हें दर्शनानन्दकी यथार्थ प्राप्ति प्रायः नहीं होती। वे केवल भोग या मोक्ष ही पा सकते हैं, प्रेम नहीं।

३—चाहको बढ़ानेका एकमात्र उपाय यही है कि भोगोंको अनित्य और दुःखोत्पादक समझकर उनकी सब इच्छाएँ छोड़ दी जायँ। जबतक दूसरी कोई भी कामना रहेगी तबतक भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा तीव्र नहीं हो सकती।

४—निरन्तर ध्यानके लिये तो निरन्तर ध्यानकी ही जरूरत है। जहाँ काम और ध्यान दोनों हैं, वहाँ तो दोनों ही रहेंगे। एक साथ दो बातें कैसे रहेंगी? तथापि जबतक वैसी लगन नहीं लगी है तबतक ऑफिसके कामको भी उन्हींका काम समझकर कीजिये और काम करते हुए यथासम्भव उनका नाम-जप और चिन्तन भी चलाइये।

५—सोते हुए जप या ध्यान कैसे हो सकता है? निद्रा और जप एक कालमें तो रह ही नहीं सकते। निद्रामें वृत्ति लीन रहती है और वह उसी विषयमें लीन होती है जो निद्रा आनेके ठीक पूर्व क्षणतक रहता है। अतः जप-ध्यान करते-करते सो जाइये। ऐसा करनेसे जब आप उठेंगे तब भी आपको मालूम होगा कि उठते ही पुनः वही जप और ध्यान आरम्भ हो गया है। क्योंकि वृत्ति जिसमें लीन होती है, उसीसे उदित भी होती है। इस प्रकार निद्राके आगे-पीछे जपका सम्पुट रहनेसे निद्राकालमें भी मन जपमें ही लीन रहेगा।

६—साधनमें आप मुझसे जो सहायता चाहेंगे वह मैं यथाशक्ति अवश्य देनेका प्रयत्न करूँगा। आपको जो कुछ शंका हो प्रसन्नतासे पूछनेकी कृपा करें। पत्रका उत्तर देनेमें मुझे प्रायः देरी हो जाया करती है, इसके लिये मैं लाचार हूँ। शेष भगवत्कृपा।

(२१)

परम वस्तुकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य इच्छाकी आवश्यकता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। धन्यवाद! आपने कृतज्ञता प्रकट की, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्यका कर्तव्य ही है कि वह परस्पर सत्परामर्शका आदान-प्रदान करे, इसमें बड़ाईकी कौन-सी बात है। सच पूछिये तो आपके प्रति कृतज्ञ तो मुझको होना चाहिये, जो आपने सत्-चर्चा चलाकर मेरे मनको कुछ समयके लिये सच्चिन्तनमें लगाया।

आपने लिखा कि 'मैं इस विषयको बहुत दिनोंसे जानता हूँ, पर ऐसा कर नहीं पाता' सो इसमें मेरी समझसे आपकी इच्छाकी तीव्रताका तथा तदनुकूल क्रियाका अभाव ही प्रधान कारण है। किसी भी कार्यकी सिद्धि केवल जाननेसे नहीं होती, उसके साथ उसे सिद्ध करनेकी इच्छा एवं तदनुकूल कार्य करनेकी आवश्यकता है। भोजनसे भूख मिटती है यह जान लिया, परन्तु इस जाननेसे पेट नहीं भरता। भोजनकी इच्छा होनी चाहिये तथा भोजनके पदार्थ बनाकर उनको खाना चाहिये। ज्ञानके साथ इच्छा होनी चाहिये और वह इच्छा भी ऐसी होनी चाहिये जो अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें परिणत हो गयी हो—जैसे अत्यन्त प्यासेको जलकी इच्छा होती है। ऐसी इच्छा होनेपर क्रिया स्वयमेव होती है और फिर उसका फल प्रकट होता है। मैं समझता हूँ, आप केवल जानते ही हैं पर आपने न तो उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा ही की है और न प्रयास ही।

एक बात यह भी है कि प्रयास भी मन्द नहीं होना चाहिये। उसके लिये अटूट धैर्य चाहिये और चाहिये परम श्रद्धा एवं आत्मविश्वास। योगदर्शनमें आया है कि अभ्यास वही दृढ़ होता है जो निरन्तर चलता हो, दीर्घकालतक चलता रहे और जिसके करनेमें सत्कार-बुद्धि हो। हम जिस वस्तुको पाना चाहते हों, उसकी सत्ता और श्रेष्ठतामें हमारी श्रद्धा होनी चाहिये, उसके प्राप्त होनेमें श्रद्धा होनी चाहिये और हम उसे अवश्य प्राप्त कर लेंगे, इस निश्चयमें दृढ़ विश्वास होना चाहिये। जहाँ श्रद्धाका अभाव है, आत्मविश्वासकी कमी है, वहाँ सिद्धि तो दूर रही, साधन ही सुचारुरूपसे नहीं हो पाता। अतएव मैं तो आपको सलाह दूँगा कि आप अपने जाने हुए तत्त्वको पानेके लिये आतुर हो जाइये। फिर उसके लिये प्रयत्न आप ही होगा। और फिर आपको प्रशस्त पथ बतलानेवाले भी अवश्य मिल जायँगे। तीव्र इच्छा होनेपर विश्वासी साधककी सहायता स्वयं भगवान् करते हैं।

(२२)

बुद्धिमान् और चतुर कौन?

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। आजकल यही हो रहा है। जो लोग किसी भी प्रकारसे ठगकर, लूटकर, चोरी करके, छल-कपट करके और तरह-तरहके झूठे प्रपंच रचकर रुपया कमा लेते हैं, वे समझते हैं कि उनके समान चतुर, बुद्धिमान् और सफलजीवन पुरुष जगत्में कोई नहीं है। दूसरे लोग भी ऐसे ही लोगोंका मान-सम्मान करते हैं, प्रशंसा-स्तुति करते हैं और उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। वे स्वयं और समाजके लोग उनके श्रेष्ठत्वकी घोषणा करते हैं और समाज उन्हींको आदर्श पुरुष, नेता, बुद्धिमान् और सबका पथ-प्रदर्शक मान लेता है। इसीका यह परिणाम है कि आज समाजमेंसे सत्य, ईमानदारी, सदाचार, धर्मभीरुता आदि सद्‌गुणोंका लोप हो रहा है। परलोक, कर्मफल-भोग धर्म तथा ईश्वरके भय आदिको भूलकर लोग केवल अर्थपिशाच और अधिकार-लिप्सु हुए चले जा रहे हैं। सारे समाजमें यह विषकी बेल फैल गयी है। नये-नये कानून बनते हैं पर बेईमानीके नये-नये रास्ते निकल रहे हैं। पता नहीं, इसका कैसा भयंकर कुपरिणाम होगा!

परन्तु विचार करके देखनेपर पता लगता है कि बुद्धिमान् और चतुर तो वे लोग भी नहीं हैं, जो भोगोंमें सुख मानकर उनमें आसक्त रहते हैं पर निषिद्ध आचरण—चोरी, ठगी, बेईमानी, झूठ-कपट आदि न करके वैध उपायोंके द्वारा ही भोग प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। क्योंकि ऐसे लोग यद्यपि जानबूझकर पाप नहीं करना चाहते, परन्तु उनके द्वारा जो दिन-रात विषय-

चिन्तन होता है, वह स्वाभाविक ही विषयासक्ति, कामना, क्रोध (या लोभ), मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाश करके अन्तमें उनका पतन करा देता है (देखिये गीता २। ६२-६३)। भोगोंसे परिणाममें दुःख उत्पन्न होता है। विचार करनेपर इसका भी सबको पता लग सकता है। सच्ची बात तो यह है कि भोग दुःखयोनि हैं, इसका सभीको अनुभव है, पर मोहवश इस अनुभवसे लोग लाभ नहीं उठा रहे हैं। जो मनुष्य अपनेको पतन और दुःखकी ओर बढ़ाता रहे, वह कभी बुद्धिमान् और चतुर नहीं कहला सकता। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उन्हींको बुद्धिमान् कहा है— जो इन दुःख उत्पन्न करनेवाले उत्पत्ति-विनाशशील भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसाते (गीता ५। २२) और जो भगवान्को ही सबका मूल तथा भगवान्से ही सबको प्रवर्तित समझकर भावके साथ उन्हें भजते हैं (गीता १०। ८)। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने उद्धवजीसे स्पष्ट कहा है—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(११। २९। २२)

‘बुद्धिमानोंकी बुद्धि और मनीषियोंकी मनीषा यही है कि वे इस असत्य और मर्त्य देहके द्वारा मुझ सत्य और अमृतरूपको प्राप्त कर लें।’

मनुष्य-शरीरका यही उद्देश्य है और यही परम फल है कि उसमें अपने अधिकारानुसार साधन करके भगवान्को प्राप्त कर लिया जाय।

पर जो लोग इतने भोगासक्त और पतित हैं कि दिन-रात चोरी-ठगी, बेईमानी और झूठ-कपटमें लगे रहकर इसीमें अपनेको गौरवान्वित, पण्डित, बुद्धिमान् और चतुर मानते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। वे मानव-जन्मको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं, पापका एक बहुत बड़ा बोझ बाँध रहे हैं, जिसका दुष्परिणाम विविध दुःखों, कष्टों और यातनाओंके रूपमें उन्हें जन्म-जन्मान्तरतक भोगना पड़ेगा। यहाँकी यह मान-प्रतिष्ठा, यह धन-ऐश्वर्य कितने दिनोंका है? यह सुख कबतक रहेगा? वस्तुतः तो इसमें सुख है ही नहीं। पाप करके भोगोंका उपार्जन करनेवाले मनुष्योंका चित्त कभी शान्त, उद्वेगरहित, निर्भय और निश्चिन्त नहीं रह सकता। वे रात-दिन अपने पापोंसे आप ही जलते रहते हैं। यह अनुभव ऐसे सभी लोगोंको न्यूनाधिक रूपमें है जो ऐसे कुकर्मोंमें लगे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें बतलाया है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, निर्दयी नराधमोंको मैं संसारमें लगातार (कुत्ते, सियार, सूअर आदि) आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! संसारमें वे मूर्खलोग जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं और मुझको न पाकर, फिर और भी अधम गतिको (नरकोंकी प्रेत-पिशाचादि योनियोंमें) जाते हैं।' पहले भी भगवान् यह कह आये हैं—

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'बुरी तरहसे कामोपभोगमें लगे हुए वे लोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

यह है पापियोंकी गति—(१)जबतक जीवन रहा—अशान्ति, उद्वेग, भय, ईर्ष्या और कामनाकी आगसे जलते रहे, (२) दुर्लभ मानव-शरीर व्यर्थ नष्ट हो गया—भगवत्प्राप्तिके मार्गपर ही नहीं आये, (३) पापोंका इतना भार ले चले कि जिसके फलस्वरूप कुत्ते, सियार, सूअर, नरकके कीट आदि बनना पड़ेगा और नरकोंकी भीषण यन्त्रणाएँ सहनी पड़ेंगी!

भला, कौन ऐसा यथार्थ बुद्धिमान् पुरुष होगा जो अपने जीवनको इस दुष्परिणामपर पहुँचाना चाहेगा। पर यदि कोई ऐसा चाहता है तो स्पष्ट ही है कि वह महामूर्ख है, जो अपने ही लिये आप दुःखोंकी गहरी खाई खोद रहा है।

अतएव विचारनेकी बात यह है कि ऐसे कार्य करनेवाला कोई चाहे अपनेको बुद्धिमान् और चतुर समझकर अभिमान करे या सारी दुनिया उसे महान् बुद्धिमान् और अत्यन्त दक्ष मानकर उसका बड़ा भारी सम्मान करे, वास्तवमें यह न तो उसकी बुद्धिमत्ता है, न दक्षता और न इससे उसको किसी प्रकारका लाभ ही है। अतएव आपको इस मोहमें कदापि नहीं पड़ना चाहिये। लोग चाहे मूर्ख मानें, चाहे यहाँ मान-सम्मान न मिले, चाहे यहाँका जीवन लोगोंके देखनेमें दुःखपूर्ण हो, पर जिसके जीवनकी गति भगवान्की ओर है, जो यहाँके सुखोंकी स्पृहा छोड़कर सादा जीवन बिताता हुआ गरीबीसे रहता है और जो भगवान्के मंगल-विधानमें विश्वास रखकर अपनी लौकिक स्थितिके सम्बन्धमें सदा सन्तुष्ट और निश्चिन्त है, वही वास्तवमें बुद्धिमान् है, वही भाग्यशाली है और उसीका मानव-जीवन सफल होता है।

(२३)

ईश्वर-भजन या देश-सेवा

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। मेरी समझसे जो 'मनुष्य केवल ईश्वर-भजन करता है या करनेकी कोशिश करता है और सत्यके आधारपर जीविकाका उपार्जन करता हुआ अपने गृहस्थका पालन करता है', वह कम देश-सेवा नहीं करता। देश-सेवाका अर्थ बैज लगाकर घूमना या व्याख्यान देना नहीं है। मनुष्यके समुदायका नाम समाज है और समाजकी समष्टि ही राष्ट्र या देश है। यदि एक भी मनुष्य भजनपरायण और सत्यपर आरूढ़ है तो इसका यह अर्थ है कि देशका एक अंग सुधर गया है। इतना ही नहीं, उसके आदर्शके प्रभावसे बहुत लोगोंके सुधरनेकी आशा है। आपने लिखा कि 'देश-सेवासे भजनमें कुछ-न-कुछ बाधा पड़ जाती है और सत्य तथा अक्रोधमें भी बाधा पड़ती है।' इसका उत्तर यह है कि जिस देश-सेवासे सत्य और अक्रोध मिटता हो एवं असत्य तथा क्रोधको स्थान मिलता हो, वह देश-सेवा कैसी है? जो अपने आचरणसे देशवासियोंके सम्मुख सत्य और क्षमाका आदर्श उपस्थित करता है, वही तो सच्चा देशसेवक है। और भजनमें बाधा पड़नेवाली बात तो और भी विशेष विचारणीय है। जिनके लिये प्रत्येक कर्म ही भगवत्सेवा बन गया हो, जो अपने सहज कर्मसे सदा भगवान्‌की सेवा ही करते हों, उनकी बात दूसरी है। नहीं तो, भजन छूटे— भगवान्‌से चित्त हटे, ऐसा अच्छे-से-अच्छा कर्म भी वस्तुतः त्याज्य ही है।

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य ही भगवान्‌की या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति है और वह होती है भजनसे। इसलिये भजन ही मानवका प्रधान धर्म है। इस धर्मके सामने अन्य सभी धर्म तुच्छ हैं।

(२४)

भगवत्कृपाका भरोसा

आपका भावपूर्ण कृपापत्र मिला। उसमें ऐसी कोई बात तो नहीं मालूम होती, जिसका उत्तर मैं लिखूँ। आपने अपनी त्रुटियोंके लिये खेद प्रकट करते हुए स्वयं ही भगवद्भजन, तत्त्व-साक्षात्कार और सद्व्यवहारकी आवश्यकता प्रदर्शित की है। यही बात बहुत ठीक है। इस मानव-शरीरकी विशेषता तो यही है कि केवल इसी योनिमें जीवको कर्तव्याकर्तव्यका विवेक होता है और इसीमें वह आवागमनके चक्रसे छूटकर परमपद प्राप्त कर सकता है। मानव-जन्म पाकर जिसने इस लक्ष्यकी ओर जहाँतक गति प्राप्त की है वहाँतक ही उसका जन्म सफल समझना चाहिये। भोगोंकी प्राप्ति तो सभी योनियोंमें समान है।

परन्तु जीव अनादिकालसे भोगोंमें ही रचा-पचा रहनेके कारण उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। इस क्षुद्र प्रलोभनके कारण ही वह इस अमूल्य जन्मके परमलाभसे वंचित रह जाता है। इस मायाकी मोहिनी शक्तिने सबको भुला रखा है। इसके कारण कई बार अच्छे-अच्छे संयमी और तपस्वी भी पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इससे तो केवल भगवत्कृपासे ही रक्षा हो सकती है। अतः अपनी सारी योग्यता और शक्तिको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर सर्वथा निष्किंचन और साधनशून्य हो उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। आप सर्वथा निश्चेष्ट हो जाइये। वे जो करावें, वही कीजिये और जैसे रखें वैसे ही रहिये। निश्चेष्ट होनेका अर्थ यह नहीं है कि हिलना-डोलना छोड़कर चुपचाप बैठ जायँ। इसका तात्पर्य यही है कि अपना

लक्ष्य प्राप्त करनेके लिये अपनी बुद्धि और साधनका बल न रहे, केवल प्रभुकृपाका ही भरोसा हो। इस जीवन-नौकाकी पतवार उस भवसागर-पारलगैयाको ही सौंप दी जाय। सच मानिये, फिर आप निर्भय हैं, वह आपको बीचमें कभी डूबने नहीं देगा।

जब सांसारिक प्रलोभनोंका वेग अपनी शक्तिसे अधिक जान पड़े तो घबराइये मत। दृढ़तासे प्रभुके ही चरणोंका आश्रय लीजिये। दीन और आर्त होकर उन्हें पुकारिये, उन्हींसे प्रार्थना कीजिये। द्रौपदी और गजराजकी तरह वे आपकी भी अवश्य रक्षा करेंगे। आप सच्चे मनसे प्रभुको पुकारें और वे आपकी पुकार न सुनें—ऐसा हो नहीं सकता। उनके सर्वत्र कान हैं।

बस, सारे बल छोड़कर केवल भगवत्कृपाका भरोसा रखिये और केवल श्रीभगवान्‌को ही अपना लक्ष्य बनाइये। जबतक भगवान्‌के सिवा कोई दूसरा लक्ष्य रहेगा और आत्मसमर्पण या शरणागतिके सिवा दूसरा साधन रहेगा, तबतक शान्तिका मिलना असम्भव है।

(२५)

भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके निज-जन बन जाइये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी आपसे बार-बार यही प्रार्थना है कि आप भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करें। छोटे बालककी भाँति आप अपनेको श्रीभगवान्‌के सामने छोड़ दें। फिर आपको प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं होगी। सुन्दर सुधरी हुई भाषामें और अच्छे सुरीले शब्दोंमें पदगान करके उनको रिझानेकी बाहरी क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। जैसे स्नेहमयी जननी मलमें सने हुए बच्चेको, उसके बिना कहे ही, स्वयं अपने हाथोंसे धोती, पोंछती और सजाकर उसे गोदमें बैठा लेती है, वैसे ही भगवान् भी आपकी अपने-आप ही सँभाल करेंगे। अपनेको शिशुकी भाँति भगवान्‌पर छोड़ देनेवाले 'योग-क्षेम' का स्वयं वहन करनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**'। माताके हृदयमें अपत्य-स्नेह है, एक वात्सल्य है जो उसे अबोध शिशुकी सार-सँभाल करनेको बाध्य करता है। फिर भगवान् तो माताओंकी माता हैं। अनन्त मातृहृदयोंमें अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक जो स्नेहका अखण्ड स्रोत बहता रहता है, कभी सूखता ही नहीं, उसका मूल उद्गमस्थान कहाँ है? वह है भगवान्‌में। जगत्‌में जो स्नेह-सुधा-रसके बिखरे हुए अनन्त कण दिखायी पड़ते हैं, वे सब-के-सब एकत्र कर लिये जायँ तो भी वे भगवान्‌के अनन्त गम्भीर स्नेह-सुधार्णवकी एक बूँदके बराबर भी नहीं होंगे। अतएव जगत्‌के जीवोंके प्रति भगवान्‌की स्वाभाविक कृपा है, सहज सौहार्द है। सब जीव उन्हींके अंश हैं, सदा उन्हींकी गोदमें हैं। पर जैसे कभी-कभी बालक अपने अज्ञानवश स्नेहमयी माताको कठोर समझ लेता है,

उसके व्यवहारमें रूक्षता, कटुता, विषमता और उपेक्षा देख पाता है, वैसे ही अज्ञानी जीव भी भगवान्‌को स्नेहशून्य, कठोर, पक्षपाती और उदासीन मान लेता है एवं कह बैठता है कि भगवान् मेरी एक भी नहीं सुनते। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। भगवान्‌के समान शीघ्र पुकार सुननेवाला और कोई है ही नहीं। हम किसी भी भाषामें—अथवा बिना ही कुछ बोले मन-ही-मन भगवान्‌को अपने मनकी बात कहें, भगवान् तुरन्त सुनते हैं और हमारे समझानेमें त्रुटि होनेपर भी उसे यथार्थ समझ लेते हैं तथा उसी क्षण उसका आशापूर्ण उत्तर भी दे देते हैं। वे हमारे पूर्वके पापोंको नहीं देखते, हमारे पापाचरणपर ध्यान नहीं देते; क्योंकि वे पतितपावन हैं। वे तो बस, इतना ही चाहते हैं कि मुझपर विश्वास करके जीव मेरा आश्रय ले ले, वैसे ही जैसे छोटा शिशु माताके आश्रित होता है। उनके सामने हृदयको खोलनेकी आवश्यकता है, वाणीको नहीं। वे हृदयमें रहते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। इसलिये जो लोग अपना हृदय खोलकर उनके सामने अपने पाप-तापोंको रख देते हैं, भगवान् उन्हें अपना लेते हैं और ऐसा बना देते हैं जिसमें फिर उन्हें पाप-ताप छू नहीं सकते। परन्तु जो लोग पापोंको छिपाकर भगवान्‌को धोखा देना चाहते हैं, उनके सामने दम्भ करते हैं, वे अन्तर्यामी भगवान्‌के सामने कुछ छिपा तो सकते ही नहीं, उनकी पतित-पावनताके प्रभावसे अवश्य वंचित रह जाते हैं!

अतएव आप श्रीभगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके निज-जन बन जाइये। फिर वे आपके दोषोंको नहीं देखेंगे। भगवान् इतने मृदुल स्वभावके हैं कि वे अपने जनोंका दोष नहीं देखकर उन्हें सहज ही अपना लेते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

श्रीगोस्वामीजी महाराजने विनय-पत्रिकामें गाया है—

जौ पै हरि जनके औगुन गहते।

तौ सुरपति कुरुराज बालिसों, कत हठि बैर बिसहते॥

जौ जप जाग जोग ब्रत बरजित, केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय ब्रज, गोप-गेह बसि रहते॥
जौ जहँ-तहँ प्रन राखि भगतको, भजन-प्रभाउ न कहते।
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़, हम केहि भाँति निबहते॥
जौ सुत हित लिये नाम अजामिलके अघ अमित न दहते।
तौ जम-घट साँसति-हर हम-से बृषभ खोजि-खोजि नहते॥
जौ जगबिदित पतित-पावन, अति बाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहु कलप कुटिल तुलसी-से सपनेहुँ सुगति न लहते॥

'हे हरि! यदि तुम निज-जनोंके दोषोंको मनमें लाते तो इन्द्र, दुर्योधन और बालिसे हठ करके क्यों शत्रुता मोल लेते? यदि तुम जप, यज्ञ, योग, व्रत आदि छोड़कर केवल प्रेमपर ही नहीं रीझते तो देवता और श्रेष्ठ मुनियोंको छोड़कर व्रजमें गोपोंके घर किसलिये निवास करते? यदि तुम जहाँ-तहाँ भक्तोंका प्रण रखकर भजनका प्रभाव न बताते तो हम-सरीखे मूर्खोंका कलियुगके कठिन कर्म-मार्गमें किस प्रकार निर्वाह होता? हे कष्टहारी! यदि तुमने पुत्रके संकेतसे नारायणका नाम लेनेवाले अजामिलके अनन्त पापोंको भस्म न किया होता तो फिर यमराजके दूत तो हम-सरीखे बैलोंको खोज-खोजकर हलमें ही जोतते। और यदि तुमने जगत्-प्रसिद्ध पतितपावनताका बाँका विरद न धारण किया होता तो तुलसी-सरीखे कुटिल तो अनेक कल्पोंतक स्वप्नमें भी शुभ गतिको प्राप्त नहीं होते।'

इस प्रकार जब भगवान् आपको अपना लेंगे तब आप सहज ही पाप और सन्तापसे सर्वथा रहित हो जायँगे। एवं समस्त दिव्य गुण अपने-आप ही अपनेको सार्थक करनेके लिये आपकी शरणमें आ जायँगे—

जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो।
सोइ सुसील, पुनीत, बेदबिद, बिद्या गुननि भर्‌यो॥

(२६)

ईश्वरपर विश्वास कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। व्यापारिक उलझनोंके कारण आपकी जो मानसिक स्थिति हो गयी है, वह अवश्य ही शोचनीय है। योजनाओंकी चतुर्दिक् असफलताओंसे निराशा और सन्देहका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। आप आज चारों ओर निराशा देखते हैं। चित्तमें उदासी, विषाद है; सभीपर सन्देह है कि लोग मेरी उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं और आपके मुँहसे निराशाभरे शब्द निकलते हैं। यह सब ठीक है, पर इस स्थितिको सुधारना है। निराशाभरे भावोंका पोषण करने, निराशाभरे शब्दोंके उच्चारण करने तथा अपनेको एवं दूसरोंको कोसनेसे स्थितिमें सुधार नहीं होगा; ये तो मानसिक दुर्बलताके लक्षण हैं। इनसे संकटोंकी श्रृंखला टूटती नहीं, वरं और भी दृढ़ हो जाती है। इनके बदले आप पवित्र रचनात्मक भावोंको मनमें लायें और वैसे ही शब्द उच्चारण करें। ऐसा करनेसे बल और उत्साह आयेगा, संकटोंको झेलनेकी शक्ति आयेगी तथा संकटोंसे तरनेका मार्ग दिखायी देगा।

श्रीभगवान्‌पर विश्वास कीजिये। आप निश्चय मानिये, भगवान्‌ने आपके अन्दर वह शक्ति दे रखी है, आपको वह साधन प्रदान कर रखा है, जिसके प्रयोगसे निराशाकी जगह निश्चित आशाका संचार हो सकता है और असफलता सफलतामें परिवर्तित हो सकती है। वह शक्ति या साधन है—'ईश्वरमें विश्वास रखकर सावधानीके साथ अपने कार्यमें लगे रहना।' ईश्वरमें विश्वास करनेपर ईश्वरीय नियमोंकी रचनात्मक शक्तियाँ

जाग्रत् हो जाती हैं और मनुष्य अपने-आप निराशापर विजय प्राप्त करके असफलताके मूल कारणको भी समूल उखाड़ फेंकनेमें समर्थ होता है।

दुःखी होने, कोसने, निराश होने, पागलोंकी तरह प्रलाप करने, अपशब्दोंके उच्चारण करने और कार्यमें मन लगाकर प्रयत्न न करनेसे तो उलझनें और भी बढ़ जायँगी। अतएव मेरी आपसे विनीत प्रार्थना है कि आप ईश्वरमें विश्वास करके अपनेको समर्थ बना लें और आशाभरे भावोंका पोषण तथा आशाभरे शब्दोंका उच्चारण करें; फिर दुर्भाग्य आपसे दूर भाग जायगा और आप अपने आध्यात्मिक स्तरकी भी रक्षा कर सकेंगे।

ईश्वरका रचनात्मक विधान सदा-सर्वदा हमारे संकटनाश और अभ्युदयके लिये प्रस्तुत है। आप इस सत्यको स्वीकार कीजिये; फिर देखिये, आपकी उलझनें किस आसानीसे सुलझती हैं। संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलताके भावोंका पोषण करके तथा बार-बार ऐसे शब्द बोलकर आप उन बीजोंको बो रहे हैं जिनके फल भी यही—संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलता ही होंगे। इनसे बचिये और ईश्वरकी महान् कृपा और उनके स्वाभाविक प्रेमपर विश्वास करके उन्हींके बीज बोइये; फिर उनसे वैसे ही ईश्वर-कृपामें और उनके प्रेममें अनन्त विश्वासरूपी महान् फल प्राप्त होंगे।

यदि आप जीवनमें सुख, शान्ति, आनन्द, सफलता और ईश्वर-प्रेम चाहते हैं तो बार-बार इन्हींका चिन्तन कीजिये और इन्हीं शब्दोंका उच्चारण कीजिये। दुःख-अशान्ति, असफलता आदिकी चर्चा और चिन्तन ही बन्द कर दीजिये। जो कुछ हो चुका है, उसे भगवान्के मंगलविधानका परिणाम मानकर

अपने मनमें उसका रूप बदल दीजिये, जिससे आपमें उत्साह, उल्लास और कार्यशीलता आ जाय एवं आपका भविष्य उज्ज्वल तथा सुखपूर्ण हो जाय।

ईश्वरमें आपका विश्वास जितना ही दृढ़तर होगा, आपमें और ईश्वरमें उतना ही अधिक निकटका सम्बन्ध होगा और आप उतने ही सुख-शान्ति तथा आनन्दका अनुभव करेंगे।

ये बातें मैं केवल आपको ऊपरी सान्त्वना देनेके लिये नहीं लिख रहा हूँ। यह परम सत्य है। कोई भी मनुष्य इसका प्रयोग करके देख सकता है। आप साहस मत छोड़िये और निराश न होइये। भगवान्‌की अपार और अटूट शक्तिपर विश्वास करके कार्योंको सुलझानेमें जुट जाइये। आपको अपने-आप चमत्कारपूर्ण प्रकाश मिलेगा, पथ मिलेगा और आप अनायास ही कष्टकी कँटीली और जहरीली भूमिको पार करके सुख-शान्तिसे पूर्ण अमृतमयी भूमिमें पहुँच जायँगे।

विपत्तिसे घबरानेवालेकी विपत्ति बढ़ती है घटती नहीं। विपत्ति तो उसीकी नष्ट होती है, जो विपत्ति-विदारण भगवान्‌के बलपर विश्वास करके विपत्तिको भगानेमें जुट जाता है।

विपत्ति आती ही इसलिये है कि मनुष्य पहले अपने विश्वास करनेयोग्य वस्तुके चुनावमें भूल करता है। वह यदि पहलेसे ही क्षणभंगुर, अनित्य और दुःखदायी भोगोंपर विश्वास न करके ईश्वरमें विश्वास करता तो विपत्ति आती ही नहीं। पर जो हो गया, सो हो गया। अब भी असत्यका त्याग करके सत्यको स्वीकार कर लिया जाय तो सारी उलझनें सहज ही सुलझ सकती हैं।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम।'

(२७)

भगवान्‌में सच्चे विश्वासका स्वरूप

आपका कृपापत्र मिला। आपको पहले भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास था पर अब वह श्रद्धा-विश्वास कम मालूम होता है सो ठीक ही है। पहले लौकिक स्थिति आपके मनके अनुकूल थी और आपकी कामना सफल होती थी, इससे आपका श्रद्धा-विश्वास था। अब स्थिति प्रतिकूल है और कामनाकी पूर्ति नहीं हो रही है इसलिये आपका श्रद्धा-विश्वास घट रहा है। सच्ची बात तो यह है कि वास्तवमें आपका भगवान्‌में सच्चा विश्वास हुआ ही नहीं था। ईश्वरमें सच्ची श्रद्धा, सच्चा विश्वास तभी हुआ मानना चाहिये जब उनके मंगल-विधानमें श्रद्धा हो; फिर वह विधान देखनेमें चाहे जितना भयंकर हो, चाहे जितनी कठोर-से-कठोर विपत्तियोंसे भरा हो, चाहे जैसे अत्यन्त दुःखों, अभावों, क्लेशों, अपमानों और असफलताओंसे पूर्ण हो! भयंकर-से-भयंकर प्रतिकूलतामें भी जहाँ यह दृढ़ निश्चय रहता है कि 'भगवान्‌ने यह जो कुछ मुझे दिया है सो निश्चय ही मेरे कल्याणके लिये है' तभी सच्चे श्रद्धा-विश्वासका पता लगता है। ऑपरेशनमें कष्ट तो होता ही है, परन्तु जिसको अपने रोगका ज्ञान है और डॉक्टरपर विश्वास है वह बड़े-से-बड़े ऑपरेशनके सफलतापूर्वक हो जानेपर प्रसन्न होता है एवं डॉक्टरका कृतज्ञ होता है। क्योंकि वह जानता है कि इससे मेरे रोगका नाश हो जायगा। इसी प्रकार भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास रखनेवाला पुरुष बड़ी-से-बड़ी लौकिक काट-छाँटमें भी परम प्रसन्न होता है और जैसे रोगी रोगनाशकी भावनासे प्रसन्न होकर डॉक्टरको धन्यवाद देता है, वैसे ही वह विश्वासी पुरुष भी भगवान्‌का कृतज्ञ होकर उनका नित्य दास बन जाता है। ऊपरसे देखनेमें बड़ी भयानक ऐसी घटनाओंसे

उसका विश्वास जरा भी हिलता नहीं, बल्कि बढ़ता है। यह सत्य है कि ऐसा विश्वास होना हँसी-खेल नहीं है। भगवान्‌का भजन और भगवत्-प्रार्थना करते-करते अन्तःकरणकी मलिनताका नाश होनेपर ही इस प्रकारका विश्वास उत्पन्न होता है।

भगवान्‌में ऐसा अटल विश्वास होनेपर किसी भी स्थितिमें मनुष्य हताश, निराश, उदास और विषादग्रस्त नहीं होता। वह सदा सुखी और प्रसन्न रहता है। उसका यह निश्चय रहता है कि चाहे जैसे भी भयानकरूपमें आवे, मेरे समीप आती है मेरे भगवान्‌की कृपा ही। इसलिये वह कभी निषिद्ध पथपर पैर भी नहीं रखता। उसके जीवनमें शान्ति, क्षमा, अहिंसा, सरलता, साधुता, निर्भयता, निश्चिन्तता, उदारता, प्रेम, आनन्द और प्रसाद आदि दिव्य भावरत्नोंका भण्डार खुल जाता है। वह स्वयं तो इनको अपने अन्तर्बाह्य धारण करके कृतार्थ होता ही है, सहज ही दूसरोंमें भी वितरण करके उनके जीवनको भी कृतार्थ करता है। भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास रखनेवाले ऐसे पुरुष ही धन्य हैं।

आप ऐसी चेष्टा कीजिये, जिससे आपको भगवान्‌की केवल कृपामयी मूर्तिमें और भगवान्‌के मंगलमय विधानमें विश्वास हो। ऐसा हो जायगा तो आपको आज जो प्रतिकूल स्थितिमें श्रद्धा-विश्वासकी कमी मालूम होती है वह नहीं होगी और आप सदा प्रत्येक स्थितिमें सुख-शान्तिका अनुभव कर सकेंगे। अन्यान्य उपायोंसे सफलता होती न दीखे तो अपनी असमर्थता प्रकटकर भगवान्‌से ही प्रार्थना कीजिये कि 'हे नाथ! आप ही अपनी कृपाशक्तिसे मुझे आपकी कृपामयतामें और मंगलमय विधानमें विश्वास प्रदान कीजिये।' आपकी सच्ची और सतत प्रार्थना होगी तो भगवान्‌की कृपाशक्ति आपको यह वरदान अवश्य देगी।

(२८)

भगवान्‌में विश्वास करके स्वस्थ हो जाइये

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी स्थिति अवश्य शोचनीय है; परन्तु निराश होने-जैसी कोई बात नहीं है और इस बातको लेकर आत्महत्या करनेका विचार तो सर्वथा ही अनुचित है। प्रथम तो आत्महत्या स्वयं एक महापाप है। आत्महत्या दुःखसे छुटकारा पानेका साधन नहीं बल्कि दुःखरूपी ग्रन्थका एक बड़ा अध्याय और भी बढ़ानेवाला है। आत्महत्या करनेवालेको परलोकमें भीषण यन्त्रणा और अशान्तिका भोग करना पड़ता है। दूसरे, यह बात भी ऐसी नहीं है कि जिसके लिये यहाँतककी बात सोचना आवश्यक हो।

आजकल लड़कोंके और लड़कियोंके पूर्ण तरुण अवस्था होनेके पश्चात् विवाह होते हैं। स्कूल-कॉलेज और छात्रावासोंके अनियन्त्रित ही नहीं, बल्कि मन-इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाले वातावरणमें उन्हें रखा जाता है। गन्दे शृंगारसे पूर्ण सिनेमा आदि देखे-सुने जाते हैं और कहीं-कहीं युवक-युवतियोंकी साथ-साथ पढ़ायी होती है। ऐसी अवस्थामें जीवन सर्वथा निर्दोष रहे, अपरिपक्वबुद्धि तरुणोंमें कोई बुरी आदत न आ जाय, यह सोचना भी एक प्रकारसे पागलपन है। अरण्यवासी आचार्य-ऋषियोंके तपःपूत आश्रमोंमें सुनियन्त्रित कठोर नियमोंसे आबद्ध संयमपूर्ण जीवनमें भी 'व्रतसे स्खलन न हो जाय', इसके लिये सावधानी रखनी पड़ती थी। तब आजकलके छात्रोंमें बुरी आदतोंका आ जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पर आपने जो स्थिति लिखी है उससे यह मालूम होता है कि आपको सन्देह हो गया है। वास्तवमें आपमें वह रोग

नहीं है, जिसकी आप सम्भावना करते हैं। मेरे एक परिचित नवयुवक, जिन्होंने सर्वथा अपनेको इस रोगसे ग्रस्त मान लिया था, इस समय चार सन्तानोंके पिता हैं। अतएव आपको सन्देह नहीं करना चाहिये और पिता-माताके इच्छानुसार विवाह कर लेना चाहिये। विवाह होनेपर, आशा है आपकी शिकायतें दूर हो जायँगी। इस बीचमें आप प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रका जप कीजिये। पवित्र धर्मग्रन्थोंका अध्ययन कीजिये और रात्रिके समय एकान्तमें मत सोइये। मनमें बार-बार ऐसा निश्चय कीजिये 'मैं नीरोग हूँ', 'मुझमें अमुक रोग बिलकुल नहीं है।' 'मैं स्वस्थ हूँ।' 'कोई भी बुरे विचार और बुरी आदत मुझमें नहीं रह सकती; क्योंकि सर्वशक्तिमान्, नित्य निरामय भगवान्ने मुझको अपना लिया है।' 'मैं उनका हो गया हूँ।' 'उनके संरक्षणमें हूँ।'

इस प्रकार प्रयत्न कीजिये। आशा है आप बहुत शीघ्र अपनेको स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीरका पायेंगे। भगवान्में और अपने आत्मामें श्रद्धा रखिये और स्वस्थ हो जाइये। विशेष भगवत्कृपा।

(२९)

भगवद्विश्वाससे रोगनाश

प्रिय बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि आपके पतिदेव पागल हो गये; आपके दो बच्चे हैं; और घरवालोंका बर्ताव जितना अच्छा होना चाहिये, उतना अच्छा नहीं है। आपका चित्त बहुत व्यथित है। कोई सहारा देनेवाला नहीं है। भगवान् सुनते नहीं हैं। सो वास्तवमें ऐसी स्थितिमें आपको दुःख होना स्वाभाविक है। जिसपर विपत्ति पड़ती है, वही जानता है; परन्तु आपने जो यह लिखा कि भगवान् सुनते नहीं हैं, यह भूलसे लिखा है। भगवान् सुनते हैं और खूब सुनते हैं। भगवान्पर विश्वास होना चाहिये। आप ऐसा विश्वास कीजिये कि 'भगवान् मेरी सुन रहे हैं, मेरा मनोरथ अवश्य सफल होगा, मेरे पतिदेव निश्चय ही अच्छे होंगे और वे अच्छे होने जा रहे हैं। भगवान्की मुझपर बड़ी कृपा है। उनकी कृपासे मेरे सारे दुःख-कष्ट निश्चय ही दूर हो जायँगे।' इस प्रकार दृढ़ भावना कीजिये और इन विश्वासके वाक्योंको बार-बार दुहराते हुए भगवान्से प्रार्थना कीजिये। आपको अवश्य सफलता मिलेगी। भगवान्ने गीतामें स्वयं कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(१८। ५८)

'मुझमें मन लगा लो, फिर मेरी कृपासे समस्त संकटों और कठिनाइयोंसे तुम अनायास ही तर जाओगे।' ....भगवान्के ये वचन सर्वथा ध्रुव सत्य हैं। आप घबराइये मत, न निराश होइये और न भगवान्पर जरा भी अविश्वास कीजिये। भगवान्पर विश्वास न होनेके कारण ही निराशा, शोक, विषाद और चिन्ता होती है। सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् मंगलमय भगवान्पर विश्वास करते ही निराशा, शोक,

विषाद और चिन्ता मिट जाती है और फिर परिस्थिति भी पलट जाती है। आप विश्वासपूर्वक नित्य प्रार्थना कीजिये। आपकी प्रार्थना सच्ची श्रद्धासे युक्त होगी तो आपके पतिदेवका स्वास्थ्य शीघ्र ही सुधर जायगा।

साथ ही एक दवा कीजिये। 'धवलबरवा' नामक एक जड़ी होती है, सभी जगह मिलती है। इसको संस्कृतमें 'सर्पगन्धा' कहते हैं। वहाँ न मिलती हो तो पता लिखनेपर हमलोग यहाँसे भेज सकते हैं। यह जड़ी अठन्नीभर सबेरे एक छटाँक गुलाबजलमें भिगो दी जाय और शामको उसमें तीन काली मिर्च मिलाकर उसी जलमें पीसकर उसे बिना छाने ही पिला दिया जाय। इसी प्रकार रातको भिगोकर सुबह पिला देना चाहिये। इससे खूब नींद आयेगी और पागलपन दूर हो जायगा। कमजोरी ज्यादा मालूम दे तो बीचमें एक-दो दिन दवा बन्द कर देनी चाहिये या मात्रा घटा देनी चाहिये। रोगीको पौष्टिक भोजन नहीं देना चाहिये। अमरूद खिलाना बहुत अच्छा है। कुछ दिन दवा देनेपर ही लाभ दिखायी देगा।

सबसे बड़ी दवा है विश्वासके साथ भगवान्‌का नाम लेना। श्रीधन्वन्तरिजीके वाक्य हैं—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणरूपी औषधसे सब रोगोंका नाश होता है—यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'

अतएव आप फलमें सन्देहरहित होकर सरल विश्वासके साथ '**अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः**' इन नामोंका जप कीजिये। आपके पतिदेव कर सकें तो उनसे भी कराइये। अवश्य लाभ होगा। लौकिक दुःखनाशका ही नहीं, भयंकर-से-भयंकर भव-रोगके नाशका भी यही सर्वोत्तम उपाय है। इसपर विश्वास कीजिये। विशेष भगवत्कृपा।

(३०)

भगवत्पूजाके भावसे धन कमाइये

सप्रेम हरिस्मरण। जगत्‌में सब स्वार्थका ही सम्बन्ध है। वस्तुतः कोई किसीका नहीं है। आपने माता-पिताकी सेवाके लिये धन कमानेकी आवश्यकता बतलायी, सो ठीक है। धन कमाना बुरी बात थोड़े ही है। अच्छी नीयतसे और न्यायपूर्वक धन जरूर कमाना चाहिये। परन्तु भाई साहब! यह वास्तवमें हाथकी बात नहीं है। प्रारब्धके अनुसार जैसा होना होगा, होगा। न्याययुक्त चेष्टा कीजिये। भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌की पूजाकी बुद्धिसे धन कमानेका प्रयत्न कीजिये। भगवान्‌ने रच रखा होगा तो धन मिल जायगा। न रचा होगा तो नहीं मिलेगा। भगवान्‌के विधानपर सन्तोष करना चाहिये।

भगवत्प्रेमकी बात मैं क्या लिखूँ। मैं तो प्रेमसे बहुत दूर हूँ, हाँ, सुना है—भगवत्प्रेम बहुत ऊँची वस्तु है। मोक्षतककी इच्छाका त्याग करनेसे उस प्रेमकी प्राप्ति होती है। मैं तो एक श्रीभगवन्नामको जानता हूँ। उसका पूरा महत्त्व तो नहीं जानता—परन्तु विश्वास है कि भगवन्नामसे सब कुछ हो सकता है और आपको भी उसीका आश्रय लेनेकी नम्र सलाह देता हूँ।

आप माता-पिताकी सेवाके उद्देश्यसे, इसी कर्मके द्वारा भगवत्पूजनके भावसे भगवन्नामका जप करते हुए धन कमानेका न्याय और सत्ययुक्त प्रयत्न करें। और भगवान् फलरूपमें जो कुछ भी दें, उसीको सिर चढ़ायें।

(३१)

असली धन कमानेके साधन

काम-काज मजेमें चलता होगा। रुपये कमाते ही होंगे! असली धन कमानेका भी कुछ खयाल रखते हैं या नहीं? मायाकी मोहिनीमें फँसकर प्रवाहमें बह न जाइयेगा। यह सत्य और निस्सन्देह है कि किसी भी प्रकारसे किया हुआ भगवान्‌का थोड़ा-सा भी भजन मनुष्यको छोड़ता नहीं, वह स्वयं कभी नष्ट न होकर उसे बार-बार भगवान्‌की ओर प्रेरित करता रहता है और मौका पाते ही इस लोक या परलोकमें उसे परमात्माके पावन पथमें लगा ही देता है।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

इसी प्रकार महापुरुषका संग भी महान् भयसे तारनेवाला होता है। आपने महापुरुषका संग किया या नहीं, इस बातका तो पता नहीं; परन्तु भगवान्‌का भजन तो किया ही है। यही कारण है कि वह अब भी समय-समयपर आपके चित्तमें भजनकी प्रेरणा करता है और अपना अनुमान तो यही है कि देर-सबेर आपको वह सीधी राहपर लाकर ही छोड़ेगा। आप जरा सावधान रहेंगे, और प्रवाहमें सहज ही नहीं बहेंगे तो उसे अपने कार्यमें सुविधा होगी।

आपका यह लिखना कि 'मेरा ऐसा विश्वास है कि आपके आदेशके अनुसार करनेपर जरूर लाभ होता है' मेरे प्रति आपका अकृत्रिम प्रेम प्रकट करता है। इस प्रेमके कारण ही आपको ऐसा भासता है। मैं तो आपके इस प्रेमका ऋणी हूँ ही। वस्तुतः मैं यदि कभी कोई ऋषि-प्रणीत शास्त्रोंके अथवा महात्माओंके द्वारा अनुभूत साधन-सम्बन्धी बात कह

देता हूँ और उसके अनुसार करनेपर किसीको लाभ होता है तो इसमें श्रेय उन ऋषियों और सन्तोंको है अथवा श्रद्धानुसार साधन करनेवाले साधकको। ग्रामोफोनके रिकार्डमें यदि सुन्दर गान सुना जाता है, उसमें रिकार्डका क्या है। जो कुछ है सो गाना गानेवाले, भरनेवाले और सुननेवालेके ही पुरुषार्थका फल है। मुझे तो जड रिकार्ड-सा समझना चाहिये। आपने पूछा कि 'मुझे किस-किस समय क्या-क्या करना चाहिये, पहलेकी भाँति रातमें या दिनमें कुछ करनेका आदेश मिलना चाहिये।' सो आदेश देनेका तो मुझमें न अधिकार है न मेरी योग्यता है, आपके प्रेमके भरोसे नम्र सलाह देनेमें संकोच अवश्य ही नहीं होता और इसी अभिप्रायसे नीचे कुछ लिखता हूँ। समय, सुविधा और चित्तकी अनुकूलता हो तो इसके अनुसार श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। श्रद्धा फलवती तो होती ही है।

(१) दूसरेका अहित करनेकी या अहित देखनेकी भावना मनमें कभी न आने पावे। याद रखना चाहिये कि दूसरेका अहित चाहनेवालेका परिणाममें कभी हित नहीं होता।

(२) परस्त्रीकी ओर बुरी दृष्टि कभी नहीं होनी चाहिये।

(३) व्यापारमें यथासाध्य सत्य, न्याय और पर-हितका खयाल रखना चाहिये।

(४) लोभकी वृत्तियोंको यथासम्भव दबाना चाहिये।

(५) नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका स्मरण और जप करते हुए ही संसारके काम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(६) सबमें—खास करके जिनसे व्यवहार हो उनमें—परमात्माकी भावना करके मन-ही-मन उन्हें नमस्कार करना चाहिये; तथा इस तत्त्वको याद रखते हुए ही व्यवहार करना चाहिये।

(७) किसी मनुष्यमें भी—खास करके सत्पुरुषमें दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये।

(८) यथासाध्य वाणीको असत्य, परनिन्दा, परचर्चासे बचाना चाहिये, और पराया अहित हो, ऐसी बात तो करनी ही नहीं चाहिये।

(९) अपनी धर्मपत्नीको प्रेमके व्यवहारसे परमात्माकी ओर लगाना चाहिये। रामायणादि पढ़नेका अभ्यास और नाम-जपका अभ्यास डलवाना चाहिये। विषयोंकी ओर उनका प्रलोभन न बढ़ने पावे। विषयासक्ति आपमें भी नहीं बढ़नी चाहिये।

(१०) बहिनोंके साथ अधिक-से-अधिक अच्छे-से-अच्छा उदार व्यवहार करना चाहिये।

अब आपके लिये कुछ खास साधन लिखता हूँ।

(१) दोनों वक्त सन्ध्या-वन्दन और एक-एक गायत्रीकी मालाका जप यथासाध्य ठीक कालपर करना चाहिये।

(२) प्रातःकाल पाँच माला '**ॐ नमः शिवाय**' की शुद्ध बुद्धि प्राप्त करनेके उद्देश्यसे जपनी चाहिये।

(३) रातको सोनेसे पूर्व ग्यारह माला या कम-से-कम सात माला षोडश नामके महामन्त्र । ***(हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥)*** की जपनी चाहिये।

(४) कुत्ते और गौओंको रोज कुछ रोटी, घास तथा दीन-दुःखियोंकी यथायोग्य कुछ सहायता अवश्य करनी चाहिये।

(५) कमाईमेंसे कुछ हिस्सा भगवान्‌की सेवाके लिये निकालना चाहिये और उसे जमा न करके हाथों-हाथ खर्च कर देना चाहिये।

(३२)

धनका सदुपयोग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके लम्बे पत्रका उत्तर संक्षेपमें निम्नलिखित है। धनसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरन्त भगवत्प्रीत्यर्थ लोकसेवाके काममें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये। धनकी सार्थकता तथा सफलता इसीमें है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण होता है और फलतः व्यय करनेवालेको भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। धनकी तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं— दान, भोग और नाश। इनमें भगवत्प्रीत्यर्थ धनका दान उसका सर्वोत्तम उपयोग है; भोग निकृष्ट है और परिणाममें दुःखदायी है। नहीं तो, नाश तो होगा ही। पर वह दुःख, संकट, अपमान, कलह, अनाचार और मौततक देकर नाश होगा। बड़ी साधसे छिपाकर रखा हुआ धन जब जबरदस्ती जाता है, तब बहुत दुःख होता है। पहले उसका सद्व्यय किया नहीं, फिर सिर पटककर रोना पड़ता है। धन भी छूटता है और वह सुखको भी साथ ले जाता है। बटोरे हुए धनका बलात् अपहरण और विनाश आज प्रत्यक्ष है; यह धनकी अवश्यम्भावी गति है। आप चाहे जितने दुःखी हों, यह तो जायगा ही। बस, इसके बटोरनेमें आपने जो पाप किये, उसका फल यहाँ और आगे आपको भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसको लेकर यहाँ जो चिन्ता तथा दुःख है, वह अलग है। अब भी मेरा तो यही निवेदन है कि बचे-खुचे धनका यदि अब भी कुछ सदुपयोग हो सके तो करना

चाहिये। किसी तरह मान लीजिये यदि आपने छलछद्म करके इसको बचा भी लिया, जिसकी सम्भावना बहुत कम है, तो आपके उत्तराधिकारी इसका कैसा सुन्दर सदुपयोग करेंगे, इसका अनुमान आप उनके वर्तमान विचारों और आचरणोंसे लगा सकते हैं। सच्ची बात तो यह है कि धनको जो इतना महत्त्व दिया जा रहा है, यही भूल है। सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है, मन लगाकर उसका संचय कीजिये। छोड़िये इसकी चिन्ताको यह तो कभी छूटेगा ही। इस समय रह भी जाता तो मरनेके समय इसे छोड़ना पड़ता। यह साथ तो जाता ही नहीं, फिर अभीसे इसका मोह छोड़कर निश्चिन्त क्यों नहीं हो जाते? आप अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं और बुद्धिमान् हैं भी। यह तो बुद्धिका दुरुपयोग हुआ, जिससे आज आपको दुःखी होना पड़ रहा है। इस बुद्धिको, विवेकको अब जगत्‌से मोड़कर भगवान्‌की ओर लगा दीजिये। घबरानेकी जरा भी बात नहीं है। जितनी आयु आपकी शेष है, यदि उसका एक-एक श्वास आपने भगवान्‌को सौंप दिया तो सारे पाप-तापोंसे मुक्त होकर इसी जन्ममें आप भगवान्‌को पाकर अनन्त जीवनकी साध पूरी कर सकते हैं। आशा है मेरी प्रार्थनापर आप ध्यान देंगे। शेष भगवत्कृपा।

(३३)

धन और अधिकारका मोह

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। विलम्बके लिये क्षमा करें। आपने वर्तमान परिस्थितिपर विचार प्रकट किये, सो पढ़े। मेरी समझसे आपके विचार ठीक नहीं हैं; परन्तु आप क्या करते। इस समय मनुष्यका मानसिक स्तर इतना नीचे उतर आया है कि उसमें ऐसे ही विचार आया करते हैं और इन्हींमें उसको भलाई प्रतीत होती है। जब समाजमें श्रेष्ठताका मानदण्ड 'धन और अधिकार' हो जाता है तथा धन और अधिकारके उपार्जनकी पवित्रता और उनके सदुपयोगपर दृष्टि नहीं रहती, तब उस समाजका पतन हो जाता है। क्योंकि उस समय समाजके अधिकांश मनुष्योंकी प्रबल कामना 'धन और अधिकार' को प्राप्त करनेकी हो जाती है, चाहे वे किसी साधनसे प्राप्त हों और संसारमें विषयोंकी कहीं इति नहीं है। इसलिये कितना भी धन या अधिकार प्राप्त हो जाय, कमी बनी ही रहती है, वरं जितना ही अधिक धन और अधिकार मिलता है, उतनी ही अधिक कामना बढ़ती है, वैसे ही जैसे जितनी बड़ी आग होती है, उतनी ही उसकी ईंधनकी भूख बढ़ जाती है। और इस प्रकार धन और अधिकारको प्राप्त कामनाग्रस्त मोहावृत मनुष्योंके द्वारा दूसरे लोग वैसे ही अधिक जलाये जाते हैं, जैसे बड़ी आगकी आँच दूर-दूरतक फैलकर सबको झुलस देती है। सारांश यह कि इनके 'धन और अधिकार' का भी दुरुपयोग ही होता है। उनसे साधारण लोगोंको सुख नहीं पहुँचता वरं उनका दुःख ही बढ़ता है और फिर उनको अपने इन

कार्योंके लिये कोई पश्चात्ताप भी नहीं होता। वे इसीको लोकसेवा मानते हैं और जरा भी सच्ची आलोचना करनेवालोंको अपना विरोधी या शत्रु मानकर अपनी शक्तिको उनकी जबान बन्द करनेमें लगा देते हैं। आपके विचार, क्षमा कीजियेगा, कुछ इसी प्रकारकी मनोवृत्तिको लेकर हैं।

आपके पास धन या अधिकार हैं तो उनका सदुपयोग कीजिये और यदि वे धन और अधिकार बुरे साधनोंसे प्राप्त हुए हैं तो उनके लिये पश्चात्ताप कीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि फिर ऐसी दुर्बुद्धि न हो। 'धन और अधिकार' यहीं रह जायँगे। इन विनाशी पदार्थोंके लिये सत्य और धर्मको तिलांजलि देना बहुत बड़ी मूर्खता है और हम आज बड़े गौरवके साथ यही कर रहे हैं! पता नहीं, अभी हमें पतनके किस गहरे गर्तमें गिरना है! 'धन और अधिकार' का मोह आज इतना बढ़ गया है कि इसके कारण आज सारे समाजमें मानस-रोग बढ़ रहे हैं। जहाँ देखिये, वहीं दलबन्दी, एक-दूसरेको गिरानेकी चेष्टा, गन्दा स्वार्थ और उस स्वार्थसाधनके लिये न्यायान्यायके विचारसे रहित उद्दाम आसुरी प्रयत्न! यह याद रखना चाहिये कि शरीरका बड़े-से-बड़ा रोग मृत्युके साथ ही मर जाता है; परन्तु मानसिक रोग मरनेके बाद भी साथ जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरतक यन्त्रणा देते एवं नये-नये पाप करवाते रहते हैं। आपलोग समझदार हैं, बहुत-से लोग आपलोगोंको आदर्श मानते हैं और आपके बनाये हुए पथपर चलनेमें अपना कल्याण समझते हैं, इसलिये आपपर विशेष दायित्व है। आप अपने इस दायित्वको समझें और स्वयं पतनसे बचकर दूसरोंको भी पतनसे बचानेमें सहायक हों। यही आपसे मेरा विनयपूर्वक अनुरोध है।

समाज-सेवा और देश-सेवाके लिये 'सरकारी पद' ही आवश्यक नहीं है और न लोक-सेवाके लिये केवल धनकी ही आवश्यकता है। जो लोग सरकारी पदोंपर नहीं हैं और सर्वथा निष्किंचन हैं, पर जिनकी सेवा करनेकी सच्ची इच्छा है, उनके लिये समाज, देश और लोक-सेवाके लिये बड़ा विस्तृत क्षेत्र मौजूद है। वरं यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि जो लोग पदोंके बन्धनमें नहीं हैं और जिनके पास अभिमान तथा मोहके प्रधान हेतुरूप धनका अभाव है, वे ही अधिक उत्तम और अधिक सात्त्विक भावसे ठोस सेवा कर सकते हैं। हमको जब समाज-सेवा ही करनी है, तब अधिकारका मोह क्यों होना चाहिये और क्यों इसके लिये इतनी पैंतरेबाजी करनेकी बात सोचनी चाहिये। भगवान् हमलोगोंको इस मोहसे मुक्त करें। मैंने जो कुछ लिखा है, शुद्ध प्रेमके कारण लिखा है। शब्दोंकी रूक्षताके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

(३४)

दुःख क्या है?

प्रिय भाई साहब! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। दुःख वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। मोहवश किसी घटना या अवस्थाविशेषमें आप प्रतिकूलताका अनुभव करते हैं, वही दुःख बन जाता है। यदि प्रारब्धभोग, भगवान्‌का मंगलमय विधान या मायाका विलास— इनमेंसे कोई-सी भी एक बात मान लें तो दुःख नहीं रहेगा। यों संसारी हिसाबसे देखें तो दुःख अपनी अपेक्षा सुखियोंके प्रति ईर्ष्यासे होता है और सुख अपनी अपेक्षा हीन स्थितिवालेसे अपनी ऊँची स्थिति माननेपर होता है। मनुष्यको सुखी होना हो तो सुखियोंसे द्वेष-ईर्ष्या करना छोड़ दे और अपने सुखको दुःखियोंमें बाँट दे। आप स्वयं बुद्धिमान् हैं, मैं विशेष क्या लिखूँ। शेष भगवत्कृपा।

(३५)

भगवान् दुःख नहीं देते

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान् दुःख नहीं देते, दुःखनिवारणका उपाय करते हैं, परन्तु अपनी नासमझीके कारण हम उसको दुःख मानने लगते हैं। भगवान् करुणामयी माताके सदृश स्वभावसे ही दयालु हैं। जैसे माताको अपने बालकपर सहज स्नेह होता है, उसी प्रकार भगवान् हम सबपर स्वभावतः स्नेह रखते हैं। बालक इच्छानुसार घूमता हुआ अपने अंगोंमें मल-कीचड़ आदि लगा लेता है और उसे धोना भी नहीं चाहता। दयामयी जननी बालकके हितके लिये ही उसकी इच्छाके विपरीत उसे ठण्डे जलसे नहलाती है। बालक रोता है, चिल्लाता है और मन-ही-मन समझता है कि माँ उसे दुःख दे रही है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। माता उसे सुखी और स्वस्थ बने रहनेके लिये ही वह क्षणिक कष्ट उसको स्वीकार कराती है। इस प्रकार जीव भी भगवान्का बालक है। वह स्वरूपसे शुद्ध है, फिर भी अज्ञानी शिशुकी भाँति पापपंकमें लिप्त हो जाता है। भगवान् माताकी भाँति सहज स्नेहके कारण उसे इस पाप-तापसे मुक्त करनेका यत्न करते हैं, जीव उस प्रयासका रहस्य न समझकर भगवान्को निष्ठुर बताता और उन्हें दुःख देनेवाला मानता है। जो घाव सारे शरीरमें जहर फैलाता हो, उसको चीर डालनेमें ही शरीरका हित है, सहलानेमें नहीं। इसी प्रकार पापरूपी मैलको धोने या अघरूपी घावका घातक प्रभाव मिटानेके लिये जीवको क्षणिक दुःखरूपी उपचार स्वीकार ही करना चाहिये और इसमें भगवान्की परम दया मानकर प्रसन्न ही होना चाहिये।

(२) यह ठीक है कि सारा जगत् श्रीकृष्णका स्वरूप है। इसके अणु-अणुमें श्रीकृष्ण ही व्याप्त हैं, वे ही इसके उपादान भी हैं; अतः सब कुछ परमानन्दस्वरूप ही है; क्योंकि श्रीकृष्ण परमानन्दमय हैं। फिर भी तो सबको आनन्दका ही अनुभव नहीं होता अथवा किसीको भी दुःखका अनुभव होता है, इसका कारण भ्रम अथवा अज्ञान ही है। मनुष्य बड़े आनन्दसे घरमें खाटपर सो रहा है, किन्तु स्वप्नमें उसे हाथी खदेड़ रहा है, अतः वह रोता है, डरता है, घबराता है और व्यथाका भी अनुभव करता है। जब सहसा नींद खुल जाती है, तब उसके सभी दुःख शान्त हो जाते हैं। वह पूर्ण निर्भय एवं सुखी हो जाता है। वह समझ जाता है कि यह दुःख-शोक भ्रमके कारण था। अब वह भ्रम या अज्ञान नहीं रहा, अतः दुःख भी चला गया। इसी प्रकार संसारके जीव अपनेको श्रीकृष्णसे सर्वथा भिन्न मानकर अहंकारवश देहमें आसक्त हो जाते हैं और अनेक प्रकारके राग-द्वेषमूलक सम्बन्धोंमें उलझकर दुःख-शोकके अधीन होते रहते हैं। जब भगवान्की दयासे उनका यह स्वप्न या मोह भंग होता है और वे अपनेको श्रीकृष्णसे अभिन्न अनुभव करने लगते हैं, तब वे सचमुच परमानन्दमें ही निमग्न रहते हैं; फिर उन्हें कभी दुःख-शोकका अनुभव नहीं होता।

(३) मानसमें जिन चौदह व्यक्तियोंको जीवित शवके समान बताया गया है, वे भी यदि आत्मघात करें तो पापके भागी होंगे। उन्हें जीते-जी जो दुःख या कष्ट है, वह उनका प्रारब्ध-भोग या अपने ही कर्मोंका फल है। उसे धैर्यपूर्वक भोग लेनेसे वे पाप-ताप धुल जायँगे, फिर उनका भावी जीवन सुखमय हो सकता है; किन्तु यदि उस भोगसे बचनेके लिये वे आत्मघात करते हैं तो भविष्यमें शेष भोग तो उन्हें भोगना ही पड़ेगा। आत्मघाती अनन्तकालतक अन्धकारपूर्ण नरकमें यातना भोगते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जीवित शव-सम कहनेका अभिप्राय उन मनुष्योंको मृत्युकी ओर प्रेरित करना नहीं, उनमें आत्मचेतना जाग्रत् करना है।

(४) आकाशवाणी पहले भी किसी-किसीके जीवनमें ही व्यक्त होती थी। अब भी व्यक्त हो सकती है। पर यह सब ईश्वरकी इच्छाके अधीन है। मनुष्य इसको स्वेच्छानुसार नहीं सुन सकता। भगवान् जब जिसको आकाशवाणीद्वारा कोई सन्देश देना चाहेंगे, तभी वह उसे सुनायी पड़ेगी। अब भी अधिकारी महापुरुष आकाशवाणी सुनते हैं, सुन सकते हैं।

(५) भगवान्का दर्शन उसीको होता है, जिसके हृदयमें भगवद्दर्शनकी उत्कट अभिलाषा रहती है और जो दर्शनके लिये व्याकुल होकर निरन्तर भगवान्को पुकारता रहता है।

(६) जो प्रभुको चाहनेवाले हैं, प्रभुता उनकी चेरी है। वे प्रभुताको ठुकराकर प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करते हैं। आजके अर्थप्रधान युगमें जो अधिक लोग लक्ष्मी चाहते हैं, वे प्रभुके प्रति अनन्य भक्ति रख ही नहीं सकते। वे तो धनके लिये भक्तिका सौदा करते हैं। सब छोड़कर प्रभुका भजन करनेसे प्रभु मिलते हैं और प्रभुके मिलते ही सब कुछ मिल जाता है। फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

(७) सुख-दुःखका अनुभव मन ही करता है। मन जिसे अनुकूल समझता है, उसमें सुख मानता है; जिसे प्रतिकूल समझता है उसमें दुःख मानता है। मनको अनुकूल-प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति प्रारब्धके अनुसार होती है; अतः उससे होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव भी अनिवार्य है। फिर भी हर्ष-शोकसे छुटकारा पाना पुरुषार्थ-साध्य है। अज्ञानी पुरुष सुखमें हर्ष और दुःखमें शोक करता है। ये हर्ष और

शोक विकार हैं। ज्ञानीमें हर्ष-शोक नहीं होते। मनुष्य साधनाके द्वारा विवेक प्राप्त करके हर्ष-शोकसे पिण्ड छुड़ा सकता है। हर्ष-शोक प्रारब्धके नहीं, अज्ञानके फल हैं। गृहस्थ ज्ञानीके यहाँ किसीकी मृत्यु हो जाय तो उसे लोक-दृष्टिमें दुःख-शोक होना चाहे दिखायी दे; पर वास्तवमें दुःख-शोक नहीं होगा। हाँ, प्रतिकूलता-अनुकूलताका अनुभव मनको होगा।

(८) मनुष्यको जीविकाके लिये कुछ उपार्जनका प्रयत्न करना चाहिये। सफलता दैवके हाथमें है। असफलता होनेपर भी दुःख न मानकर प्रयत्नमें लगा रहे। घरवालोंका कलह भी मौन होकर सह ले। क्षमासे दूसरोंका हृदय जीता जा सकता है। विवेकसे ही विचारोंपर संयम रखना सम्भव है। विवेक सत्संगसे प्राप्त होता है।

(९) त्रिकालाबाधित तत्त्व ही अक्षय काल कहलाने योग्य है। अक्षय देश और अक्षय काल भगवान् ही हैं। लोकमें काल-शब्दसे व्यवहृत होनेवाले जो मास, वर्ष आदि विभाग हैं, वे नश्वर हैं; जहाँ समस्त प्राकृत प्रपंचका विलय हो जाता है, वे सनातन परमेश्वर ही अक्षय या सनातन काल हैं। अतः भगवान्ने जो अपनेको अक्षय काल बताया है, वह ठीक ही है।

(१०) जैसे वायुका कोई आकार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार परमात्माकी आकृति भी सबके प्रत्यक्ष नहीं है; अतः वे निराकार हैं। फिर भी जैसे वायुमें स्पर्श गुण है, उसी प्रकार परमात्मामें अनन्त कल्याणमय गुण संचित हैं। जैसे आकाश निराकार है, तो भी उसमें शब्द-गुणका सम्बन्ध है। यही नहीं, सबको अवकाश देनेका गुण भी उसमें मौजूद है। ऐसे ही परमात्मा सर्वव्यापक एवं निराकार हैं, फिर भी वे सबके स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। वे सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हैं। वे मनके भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि, प्राणके भी प्राण और आत्माके भी आत्मा हैं। उनकी शक्तिके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल

सकता। ये सब उस परमात्माके गुण हैं। इन सब बातोंका विचार ही सगुण-निराकारका चिन्तन एवं ध्यान है।

(११) श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष दर्शन हो और उनका माधुर्यभाव ठीक समझमें आ जाय, इसका सरल और अमोघ उपाय है—सब ओरसे ममता, आसक्ति हटाकर सर्वथा श्रीराधाजीके चरणोंमें आत्मसमर्पण। श्रीराधाकी कृपासे ही श्रीकृष्णके माधुर्यरसका समास्वादन हो सकता है।

(१२) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवांछाकल्पतरु हैं। उनका यह अवतार भक्तोंको सुख देनेके लिये ही हुआ है। भक्तोंको सुख देकर प्रसन्न होना, यह श्रीकृष्णका सहज स्वभाव है। यशोदा मैया डराती हैं, धमकाती हैं, ऊखलमें बाँधती हैं और भगवान् रोते हैं— यह सब यशोदाके वात्सल्य-रसको पुष्ट करनेके लिये है। इस लीलाकी अन्तिम झाँकी यही है कि यशोदाको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है, उनके हृदयमें वात्सल्यका समुद्र उमड़ आता है और वे अपने कन्हैयाको छातीसे लगाकर स्नेहाश्रुओंकी वर्षा करती हुई एक अनिर्वचनीय सुखमें डूब जाती हैं। सखाओंको पीठपर चढ़ाना उन्हें सख्यरसका आस्वादन करानेके लिये होता है तथा श्रीराधारानीकी इच्छाके अनुरूप सखी आदिका वेष धारण करके वे उन्हें दिव्यातिदिव्य माधुर्य रस-सिन्धुमें निमग्न करते रहते हैं। इन लीलाओंमें भगवान्‌को, उनके परिकरोंको तथा प्रेमी भक्तोंको कितना आनन्द होता है—यह वाणीका विषय नहीं है। यह सुख और यह रस केवल स्वानुभवगम्य है। इसका आस्वादन श्रीप्रिया-प्रियतमकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव है।

(३६)

अहंकार ही दुःखका कारण है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके ही नहीं, सभीके दुःखके कारण अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति हैं। इनमें सबकी जड़ अहंकार है। जितना ही जिसका अहंकार बढ़ा है, उतनी ही ममता, कामना और आसक्ति बढ़ी हैं और उतनी ही मात्रामें वह अधिक-से-अधिक सन्तप्त, अशान्त और बन्धनग्रस्त है। अहंकारी मनुष्यको बात-बातमें अपमानका बोध होता है और वह पद-पदपर अनेकों शत्रु पैदा कर लेता है। किसीसे सीधी बात करनेमें भी उसे पीड़ा-सी होती है। वह अपने हठके सामने किसीकी भली बात भी नहीं सुनना चाहता। वह अपने ही हाथों नित्य बड़े गर्वके साथ अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारता है और उन्मत्त नशेबाजकी भाँति उसीमें गौरव मानकर निर्लज्जताके साथ नाचता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

'जो पुरुष सारी कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और निःस्पृह होकर संसारमें आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसके लिये आपको भगवान्का भजन करना चाहिये। भगवान्की माया बड़ी दुरत्यय है। मायाका आवरण हटे बिना अहंकारादिसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। और मायाके महासागरसे वही पार हो सकता है, जो मायापति भगवान्के

शरणापन्न होकर उनका भजन करता है— **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** भगवान् कहते हैं—'जो मेरा ही भजन करते हैं, वे इस मायासे तरते हैं।'

भजन करनेवालेमें ज्यों-ज्यों भक्तिका विकास होता है, त्यों-ही-त्यों उसमें दैन्य आता है, उसका अपना और अपने पुरुषार्थ तथा बलका गर्व गल जाता है। वह सभी बातोंमें सर्वसमर्थ प्रभुका ही कर्तृत्व देखता है। उसकी ममता जगत्में सब जगहसे हटकर एकमात्र प्रभुके पादपद्मोंमें ही केन्द्रित हो जाती है, एकमात्र प्रभुकी प्रीति ही उसकी कामनाका विषय बन जाती है, और प्रभुके नाम-रूप-लीला-गुणादिमें ही उसका अनन्य अनुराग हो जाता है। फलतः प्रपंचसे उसका अहंकार, उसकी ममता और कामना तथा उसकी आसक्ति अपने-आप ही हट जाती है। वह प्रभुका प्यारा बन जाता है और प्रभु उसे अपने हृदयमें बसाकर निहाल कर देते हैं—

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
सो सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें॥

बस, भगवान्को ही एकमात्र अपना मानकर लोभीके धनकी भाँति उनके हृदयमें बसनेका सौभाग्य प्राप्त कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

(३७)

विपत्ति-नाशका उपाय

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अपने पतिकी जो स्थिति लिखी, वह शोचनीय है। मोहग्रस्त मनुष्य इसी प्रकार अधर्मको धर्म बतलाया करते हैं और उसमें साथ न देनेवालोंको कोसा करते हैं। उनकी यह स्थिति दयनीय है! उनपर जो मलिन वासनाका भूत सवार है, उसने उनके विवेकको हर लिया है। इस अवस्थामें आपको दुःख होना स्वाभाविक ही है; परन्तु मेरी समझसे आपकी साधनासे यह रोग मिट सकता है। आप लिखती हैं 'मेरा कोई भी नहीं है' सो ऐसी बात नहीं है। आप निश्चय मानिये—'भगवान् आपके हैं' और जो यह अनुभव करता है कि जगत्‌में मेरा कोई नहीं है, उसके तो भगवान् अवश्य ही अपने हो जाते हैं। आप इस बातपर विश्वास कीजिये। और मन-ही-मन उन्हें सारी स्थिति समझाकर उनसे प्रार्थना कीजिये—अपने स्वामीकी बुद्धि शुद्ध करके उन्हें सत्पथपर लानेके लिये। आपकी सच्ची कातर प्रार्थनाका फल अवश्य होगा। भगवान् सुनेंगे और आपके मार्गभ्रष्ट स्वामी सन्मार्गपर अवश्य आ जायँगे। समय हो तो श्रीरामचरितमानसका नवाह्न या कम समय हो तो मासिक पारायण कीजिये। कहींसे गीताप्रेसमें छपी कोई रामायणकी प्रति खरीद लीजिये, उसमें नवाह्न और मासिक पारायणके दैनिक विश्राम-स्थल आपको मिल जायँगे। प्रतिदिन यह दृढ़ भावना कीजिये कि भगवान् मेरी प्रार्थना सुन रहे हैं और उनकी कृपासे मेरे स्वामीकी बुद्धि ठीक हो रही है।

साथ ही अपने पतिकी बातोंका उनके मुखपर कभी खण्डन न करके उनकी यथासाध्य तन-मनसे विशेष सेवा कीजिये। इससे भी उनपर प्रभाव पड़ेगा जो उनको सन्मार्गपर लानेमें बहुत सहायक होगा। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे,
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस सोलह नामोंके मन्त्रकी कम-से-कम एक माला (१०८) का जप विश्वासपूर्वक अवश्य कीजिये। देखिये चार-छः महीनेमें क्या परिणाम होता है।

(३८)

विपत्तिसे बचनेके उपाय

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। अनीति, शास्त्रविरोधी असत् आचरण और प्रेत-पिशाचोंकी-सी छीना-झपटीका जैसा प्रवाह चल रहा है, उसे देखते अभी तो यही प्रतीत होता है कि विपत्तियों और दुःखोंकी और भी वृद्धि होगी। तीसरे युद्धके प्रसंग भी बन रहे हैं, ज्योतिषियोंने आगामी कालको संकटपूर्ण बताया है, हालमें ही उगनेवाले पुच्छल तारेका भी ऐसा ही कुछ अनिष्ट फल बतलाया जाता है। मेरी समझसे तो इसके निवारणका सर्वप्रधान एक ही उपाय है और वह है भगवान्‌का स्मरण, भगवत्प्रार्थना और भगवच्छरणागति। तीनों एक ही वस्तुके नाम हैं, एक-दूसरेके आश्रित हैं और एककी दूसरेसे वृद्धि होती है। अतएव यदि हम अपना और जगत्‌का यथार्थ कल्याण चाहते हैं तो हमे स्वयं भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये और दूसरोंको विनयपूर्वक ऐसा करनेके लिये प्रेरणा-प्रार्थना करनी चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

आपने यह ठीक लिखा है—'महात्मा गाँधीजीकी राजनीतिक बातोंको तो लोग मानते हैं, परन्तु उनकी भगवत्प्रार्थना और मानव-मात्रके हितकी बातको कार्यतः बहुत ही कम लोग मानते हैं।' वस्तुतः ऐसी ही स्थिति है। इसीसे तो हमारी विपत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ी जा रही हैं। विशेष भगवत्कृपा।

(३९)

संकटसे बचनेका साधन

सप्रेम हरिस्मरण। आपका लिखना यथार्थ है। संसार अनित्य और परिवर्तनशील है। यह सतत परिवर्तनके प्रवाहमें—दूसरे शब्दोंमें मृत्युके प्रवाहमें बह रहा है। जो इस क्षण है, वह दूसरे क्षण नहीं है। यह परिवर्तन-प्रवाह अनादिकालसे है और अनन्तकालतक चलता रहेगा। संसारका यही स्वरूप है; परन्तु युगपरिवर्तनादिके मुख्य और ऐसे ही अवान्तर कालमें जब विशेषरूपसे परिवर्तन होते दिखायी देते हैं, तब लोकसमूह घबरा उठता है। इस समय कुछ ऐसा ही काल उपस्थित है। भाव-विचार, राज्य-साम्राज्य, व्यवहार-बर्ताव, स्थिति-परिस्थिति, विद्या-बुद्धि, संस्कृति-सभ्यता, धनी-गरीब, उच्च-नीच और छोटे-बड़े सभीमें आज भयानक परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन-चक्रमें जो लोकदृष्टिमें दु:खकी स्थितिसे निकलकर सुखकी स्थितिमें पहुँचते हैं, उनके लिये तो कुछ भी कहना नहीं है; परन्तु जो सुखकी स्थितिसे दु:खकी स्थितिमें जा पड़ते हैं, उनको स्वाभाविक ही महान् मानसिक और शारीरिक क्लेशों और संकटोंका सामना करना पड़ता है। इन क्लेशों और संकटोंसे बचनेका उपाय है परिवर्तन-चक्रके द्वारा सुखके स्थानमें पहुँचना और उसके दो निश्चित और अमोघ साधन हैं—१. ईश्वरकी प्रार्थना, २. गरीब और उत्पीड़ितोंकी ईश्वर-बुद्धिसे निष्काम सेवा।

जहाँतक हो सके, आप इन दो कामोंमें अपने मन, तन तथा धनको लगाइये। इससे आपका मंगल होगा। आपका ही क्यों, यदि विश्वासपूर्वक सर्वत्र 'भगवत्प्रार्थना' और श्रद्धाके साथ 'सेवा' होने लगे तो इस महान् परिवर्तनकालमें भी लोग बड़े-बड़े संकटोंसे अनायास ही बच सकते हैं। विशेष भगवत्कृपा।

(४०)

कष्टसे छूटनेका अमोघ उपाय

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके कष्टोंका समाचार पढ़कर खेद हुआ। मैं चाहता हूँ आपके कष्ट दूर हों और आप सारे अभावोंसे मुक्त हो जायँ। मेरे वशकी बात होती तो मैं आपको कष्टमुक्त करनेमें बहुत ही सुखका अनुभव करता; परन्तु यह मेरे वशकी बात नहीं है। मनुष्यको जो इस शरीरमें सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, वे अपने ही पूर्वजन्मोंमें किये हुए अच्छे-बुरे कर्मोंके फल हैं। इसीका नाम प्रारब्ध है। भगवान्‌के सिवा दूसरा ऐसा कौन है जो प्रारब्धकी गतिको रोक सके या उसको मिटा सके। आपको आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये और विश्वासपूर्वक उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् सब कुछ कर सकते हैं और वे स्वाभाविक ही आपके परम सुहृद् हैं। आप उनकी कृपा और सुहृदतापर विश्वास करके उनका स्मरण कीजिये और उनको अपने कष्टोंकी कथा सुनाइये। यह एक ऐसा अमोघ साधन है जो अनायास ही सब प्रकारके संकटोंसे छुटकारा दिला सकता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

'मुझमें चित्त लगा लो, फिर मेरी कृपासे तुम सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे।'

भगवान् शरणागतवत्सल हैं। वे शरणागतका कभी त्याग नहीं करते, न उसके पूर्वकर्मोंको ही देखते हैं। उनका व्रत ही है शरणागतको निर्भय करना— ***'मम पन सरनागत भयहारी।'***

अन्य सारे साधन विफल हो सकते हैं पर यह कभी विफल नहीं होगा। यह अमोघ है पर इसमें मुख्य बात है विश्वासकी। विश्वास होना चाहिये और होनी चाहिये निष्कपट हृदयकी आर्त पुकार। मैं तो आपसे यही कहता हूँ कि आप सब ओरसे सब आशा-भरोसा छोड़कर केवल सर्वसमर्थ प्रभुके शरणापन्न हो जाइये। फिर आपको आश्चर्यजनक रूपमें अपनी स्थितिमें परिवर्तन दिखायी देगा। अपने-आप ही ऐसे संयोग बन जायँगे, जो आपके संकटों और कष्टोंके मिटानेमें समर्थ होंगे।

जहाँतक बने नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम-जपका अभ्यास कीजिये। जितना ही नाम-जप गहरा होगा, उतना ही लाभ अधिक होगा। साथ ही, श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके तीसरे अध्याय—गजेन्द्र-स्तवनका विश्वासपूर्वक आर्तभावसे प्रतिदिन पाठ कीजिये। आप यदि ऐसा करेंगे तो, मेरा विश्वास है, आपके संकट अवश्य दूर हो जायँगे।

(४१)

भगवान्‌के चिन्तनसे चिन्ताका नाश होगा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पोस्टकार्ड मिला। आपको कुछ दिनोंसे बहुत ही चिन्ता है और आपकी वृद्धा माताजी भी रात-दिन चिन्तामें निमग्न रहती हैं। आपकी चिन्ता कब दूर होगी और उसके दूर होनेका उपाय आप पूछते हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि चिन्ता तभीतक आपमें रह सकती है जबतक आप उसको रखते हैं। सारी चिन्ताओंके दूर करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का चिन्तन कीजिये। वे आपके परम सुहृद् हैं और सदा आपकी सहायता करनेके लिये तैयार हैं। —इस बातपर विश्वास कीजिये।

आपने चिन्ताका कोई कारण स्पष्ट नहीं किया। उचित जान पड़े तो स्पष्ट लिखिये, जिससे उसके नाशके लिये किसी खास उपायपर विचार किया जा सके। विशेष भगवत्कृपा।

(४२)

जगत्‌में दुःखकी वृद्धि क्यों हो रही है?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सर्वथा सत्य है कि वर्तमान समयमें सारे संसारमें उत्तरोत्तर दुःख ही बढ़ रहा है, पर इसके लिये क्या किया जाय। फल तो वही लगेगा, जैसा बीज बोया जायगा। भगवान् व्यासदेवने कहा है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

'मनुष्य पुण्यका फल (सुख) तो चाहते हैं, परन्तु पुण्य (पवित्र कर्म) करना नहीं चाहते। इसी प्रकार पापका फल (दुःख) कोई नहीं चाहते; परन्तु पाप (बुरे कर्म) करते हैं यत्नपूर्वक (नये-नये ढूँढ़कर)।' इस समय जगत्‌के मानव-प्राणीकी यही दशा है। घोर तमोगुणसे उसकी बुद्धि इतनी विपरीत हो गयी है कि उसे पापोंमें ही पुण्यकी झाँकी हो रही है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३२)

'अर्जुन! जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सारी बातोंको उलटा ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है।' जबतक मनुष्यकी बुद्धि पापको पाप बतलाती है, तबतक पाप करनेवाले पुरुषको पापमें हिचक होती है और वह बुद्धिकी बार-बार प्रेरणा पाकर पापको छोड़ भी देता है; परन्तु जब बुद्धि पापको पुण्य बतलाती है, तब तो पापमें

उसका मन गौरवका अनुभव करता है और नित्य नये-नये पापोंमें प्रवृत्त होकर अपनेको सफल-जीवन मानने लगता है। हमारे आजके मानव-समाजकी प्रायः यही दशा है; तब आप ही विचारिये सुख कैसे हो सकता है। आज जो सर्वत्र दुःखका तूफान आ रहा है, इसका यही कारण है। बीज अनन्तगुना होकर फल दिया करता है। हमारे पाप ही आज अनन्तगुने होकर दुःखके रूपमें फल दे रहे हैं। और जबतक हमारी यह तामसिक बुद्धि नहीं बदलेगी, जबतक हम पापको पाप समझकर उसका परित्याग नहीं करेंगे, तबतक निश्चय जानिये दुःखोंकी मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी। फिर चाहे मोहवश हम उसको उन्नति-अभ्युदय कहें या अन्य किसी गौरवप्रद नामसे पुकारें। असली सुख-शान्ति तो तब होगी, जब सारी विषयकामनाको छोड़कर हम श्रीभगवान्‌का भजन करेंगे—

तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ सोक धाम तजि काम॥

(४३)

आध्यात्मिक शक्ति ही जगत्‌को विनाशसे बचा सकती है

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जहाँ जीवनका लक्ष्य केवल कामोपभोग होता है, वहाँ मनुष्यमें धीरे-धीरे समस्त आसुरी सम्पत्तियाँ आ जाती हैं। गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिका वर्णन देखना चाहिये। आजका मनुष्य कामोपभोगपरायण है। उसका लक्ष्य भौतिक उन्नति—प्रचुर परिणाममें जागतिक पदार्थोंकी प्राप्ति है। व्यक्ति और राष्ट्र सभी इसी होड़में लगे हैं। इसीका परिणाम संघर्ष, संहार, अशान्ति और दुःख है और भौतिक उन्नतिकी दौड़में लगे हुए जगत्‌के लिये यह अनिवार्य है। परमाणु बम—जिसने क्षणोंमें लाखों हिरोशिमा-निवासियोंका विनाश कर डाला और जिसकी दानवीय शक्तिपर आज भी अमेरिका जगत्‌को आतंकित कर रहा है एवं सोवियत रूसके वैज्ञानिक जिसके आश्चर्यजनक विकासकी साधनामें संलग्न हैं, यह इस आसुरी 'कामोपभोगपरायणता' की देन है। भगवान्‌की दिव्यतासे रहित भौतिक उन्नति मानवको रसातलमें ले जाती है; वह उन्नति, प्रगति और विकासके मोहक नामोंपर पतनके अत्यन्त गहरे गर्तमें गिर जाता है जिससे उठनेका उसे जन्म-जन्मान्तरतक भी अवकाश नहीं मिलता, वरं उत्तरोत्तर उसे नीची-से-नीची गतिमें जाना पड़ता है। श्रीभगवान्‌ने ऐसे ही मनुष्योंके लिये कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, क्रूरहृदय नीच नरोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़ लोग (आसुरी सम्पत्तिका अर्जन कर काम-क्रोधादिकी परायणतासे केवल सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति और भोगमें लगे रहकर अपने ही हाथों अपना पतन करनेवाले मूर्ख) एक जन्मके बाद दूसरे जन्ममें—बार-बार आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं। मुझ (भगवान्)-को न पाकर (मनुष्यशरीरकी सच्ची सफलता भगवत्प्राप्तिसे वंचित रहकर) आसुरी-योनिसे भी अति नीच गतिको प्राप्त करते हैं।'

ऐसे लोगोंका मानव-जीवन निष्फल होकर परलोक तो बिगड़ता ही है, यहाँ भी उन्हें क्षणभरके लिये सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। वरं जो लोग उनके सम्पर्कमें आते हैं, उनकी भी सुख-शान्ति नष्ट होने लगती है। आजका मानव-जगत् इसी आसुरभावको प्राप्त है। जबतक वह इससे नहीं छूट जाता, जबतक भोगोंकी जगह भगवान्‌को जीवनका लक्ष्य नहीं बना लेता, जबतक भौतिक पदार्थोंसे मन हटाकर आध्यात्मिकताकी ओर प्रवृत्त नहीं हो जाता, तबतक सुख-शान्तिकी आशा करना आकाश-कुसुमके समान व्यर्थ ही है। मानवका मन जिस कालमें भगवान्‌से हट जाता है और भौतिक शक्ति-सामर्थ्य-ऐश्वर्य-वैभव-प्रभाव-प्रख्याति, विज्ञान-ज्ञान आदिकी वृद्धि हो जाती है; तब उसकी दिव्य आध्यात्मिक शक्तियाँ सुप्त-सी हो जाती हैं—उनका विकास और प्रकाश रुक जाता है। वह काल मनुष्यके लिये घोर पतनका समझा

जाता है। अवश्य ही उसकी विपरीत बुद्धि इस पतनको उत्थान, इस अवनतिको उन्नति और इस विनाशको विकास बतलाती है और मूढ़ मानव इसपर गर्व भी करता है। आज यही प्रत्यक्ष हो रहा है। आजका विकासवादी मानव भौतिक उन्नतिको देखकर फूला नहीं समाता और वह अपनी उन्नतिपर गर्वोन्मत्त होकर शीघ्र ही प्रचण्डरूपसे भड़क उठनेवाले सर्वसंहारक विस्फोटकी ढेरीपर खड़ा हर्षसे नाच रहा है! वह उन्नतिका माप भौतिक पदार्थोंकी प्रचुरता और कर्मकी महान् विस्तृतिसे करता है। उसके हृदयमें जो काम-क्रोध, लोभ-मोह, द्वेष-दम्भ, मद-अहंकार, ईर्ष्या-असूया, हिंसा-प्रतिहिंसा और इनके फलस्वरूप चिन्ता-शोक, दुःख-विषाद, अस्थिरता, अशान्तिकी भीषण आग जल रही है उसकी ओर वह नहीं देखता। यही विपरीत बुद्धिका मोह है—यही तामसी बुद्धिका स्वरूप है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! तमोगुणसे ढकी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा अन्य भी सब अर्थोंको विपरीत (अवनतिको उन्नति, विनाशको विकास, हानिको लाभ, अकर्तव्यको कर्तव्य, अशुभको शुभ आदि) ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है!' और तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसाः।**' (गीता १४। १८)

यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि आजका मानव-जगत् इस समय अवनतिके कालमें है और क्रमशः अवनतिकी ओर ही जा रहा है; क्योंकि बुराई पहले मनमें आती है, पीछे वह क्रियारूपमें प्रकट होती है। आजकी

मानव-मनकी यह काम-क्रोधादि-परायणता ही कल विनाशका भीषण स्वरूप धारण करके क्रियारूपमें प्रकट होनेवाली है। यदि इस स्थितिमें परिवर्तन नहीं हुआ, मानव कामोपभोगके लक्ष्यको छोड़कर आध्यात्मिकताकी ओर—भगवान्‌की ओर न मुड़ा तो तीसरे राक्षसी महायुद्धके रूपमें या अन्य किसी रूपमें उसका पतन या विनाश अवश्यम्भावी है। विनाशके मुखपर बैठे हुए जगत्‌को यदि कोई शक्ति बचा सकती है तो वह केवल आध्यात्मिक शक्ति ही है। मानव-जातिके शुभचिन्तकोंको चाहिये कि वे स्वयं सावधान हो जायँ और जहाँतक उनकी आवाज पहुँचती हो, नम्रता, विनय परन्तु दृढ़ताके साथ इस आवाजको पहुँचानेका प्रयत्न करें।

(४४)

भगवान्‌के आश्रयसे सब दोष नष्ट हो जाते हैं

सादर हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, आपने बहुत अच्छी बात लिखी है। ब्रह्माजीने श्रीभगवान्‌से कहा था कि 'प्रभो! जबतक यह मनुष्य आपके अभय प्रदान करनेवाले चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसको धन, घर, सुहृद्-बन्धुओंके निमित्तसे होनेवाले भय, शोक, स्पृहा, पराभव और बड़ा भारी लोभ आदि दोष सताते हैं और तभीतक उसको दुःखके मूल मैं तथा मेरेपनका असत् आग्रह रहता है'—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। ६)

आप अपनेको जिन सब मानस-शत्रुओंसे घिरा देखते हैं, वे सब शत्रु तुरन्त भग जायँगे, यदि आप श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय ले लेंगे। असलमें हमारा ममत्व, जो लौकिक सम्बन्धियोंमें हो रहा है, वही हमें सता रहा है। यदि हम प्रयत्न करके अपने इस सम्बन्धको सबसे तोड़कर एकमात्र प्रभुमें जोड़ सकें और सबके साथ प्रभुके सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रखें तो फिर हमें कोई नहीं सता सकता एवं ऐसा करनेमें किसीके साथ व्यावहारिक सम्बन्ध तोड़नेकी भी आवश्यकता नहीं होती। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके सम्बन्धसे ही पतिके माता, पिता, बन्धु, मित्र, अतिथि, अभ्यागत आदिके साथ यथायोग्य व्यवहार करती है, वैसे ही भगवान्‌के सम्बन्धसे हम भी सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करें; पर मनसे ममत्व रहे केवल प्रभु-चरणोंमें ही।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भक्त विभीषणजीसे बड़ी सुन्दर बात कही है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

× × × ×

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

अपने ममताके कच्चे सूतके धागोंको, जो इधर-उधर सर्वत्र अटके हुए हैं, सबसे तोड़कर (सारे ममत्वको) एकत्र कर लें और फिर उन सबको बटकर (ममत्वको एकनिष्ठ करके) एक मजबूत रस्सी बना लें एवं उसके द्वारा अपने मनको श्रीभगवान्‌के चरणोंसे बाँध दें तो भगवान्‌के इतने प्रिय हो जायँ कि फिर भगवान् हमको अपने हृदयमें वैसे ही स्थान दे दें, जैसे लोभी धनको बसाये रखता है। भगवान्‌ने अपनेको बाँधनेका कैसा सुन्दर उपाय बता दिया है। ममता नहीं छूटती तो मत छोड़ो, उसे इधर-उधर बिखेरकर जो दुःख पा रहे हो, कभी इधर खिंचते हो, कभी उधर, फिर तनिक-से स्वार्थका धक्का लगते ही ममताके कच्चे धागे टूट भी जाते हैं—इस नित्यकी अशान्तिसे अपनेको छुड़ा लो। इतना करो कि उन धागोंको सबसे हटा लो। बस, सुखी हो जाओगे और फिर इस बटोरी हुई ममताको केवल भगवच्चरणोंमें जोड़ दो। यह मान लो कि एकमात्र भगवच्चरणारविन्द ही मेरे हैं, उनके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अपने मनके साथ भगवान्‌के चरणोंको ममताकी मजबूत रस्सीसे बाँध दो। फिर न तो कच्चा धागा है जो जरा-सी स्वार्थकी ठेससे टूट जायगा और न तो लौकिक पदार्थोंकी भाँति भगवच्चरण ही विनाशी हैं, जो कभी नष्ट हो जायँगे। पक्की दृढ़ ममत्वकी डोरी और अचल, अटल नित्य भगवच्चरण जहाँ एक बार बँधे कि फिर कभी छूटनेके नहीं। फिर तो भगवान् वशमें ही हो जायँगे और बाध्य होंगे हमको अपने हृदयमें स्थान देनेके लिये। ऐसे ही एकममतानिष्ठ भक्तोंके लिये भगवान्‌ने सुदर्शनचक्रसे डरे हुए दुर्वासा मुनिसे कहा था—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

× × × ×

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६६,६८)

'ब्राह्मणदेवता! मैं भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधुस्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर रखा है, वे भक्तगण मुझसे प्रेम करते हैं और मैं उनसे करता हूँ। हे ब्रह्मन्! जिन भक्तोंका एकमात्र मैं ही परम आश्रय हूँ, उन साधु-स्वभाव भक्तोंको छोड़कर न तो मैं अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धांगिनी विनाशरहिता लक्ष्मीजीको ही। जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबका (ममत्व) त्याग करके एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें त्याग करनेकी कल्पना भी भला मैं कैसे करूँ। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रतसे सत्-स्वभाव पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्त अपनी भक्तिके द्वारा मुझको अपने वशमें कर लेते हैं। ······मेरे वे साधु भक्त मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं जानते तो मैं उनके सिवा और कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान्‌के एकान्त आश्रयकी बात कठिन अवश्य मालूम होती है; परन्तु समझमें आ जानेपर वस्तुतः बड़ी आसान है। नया कुछ भी करना नहीं पड़ता। केवल ममताके विषयको मनसे बदल देना पड़ता है। आपने इस विषयपर बड़ा विचार भी किया है। फिर क्यों देर करते हैं।

अब रही मेरी बात, सो मैं तो सचमुच फँस रहा हूँ। '***पर उपदेश कुशल***'की बात आपको लिखता हूँ, पर स्वयं कुछ भी नहीं करता। हाँ, यह विश्वास अवश्य है कि मुझ दीन-हीनपर भी दीनबन्धुकी कृपा तो अनन्त-अपार है ही। अपने लिये क्या लिखूँ—

श्रीगोसाईंजीके शब्दोंमें—

सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसी परतीति एक प्रभुमूरति कृपामई है॥

पर सच पूछिये तो जैसी मेरी धारणा है, उसके अनुसार मुखने भी नामकी ओट नहीं ले रखी है और प्रभुकी कृपामयी मूर्तिपर विश्वास है ऐसा प्रतीत होनेपर भी, वह विश्वास किस स्तरका है, इसका भी ठीक पता नहीं है। कभी-कभी ऐसा मन होता है कि अब जीवनकी समाप्तिके दिन समीप आते जा रहे हैं, अतः ये सब दिन तो केवल प्रभुके चिन्तनमें ही बीतें, पर ऐसा हो नहीं पाता। इसमें भी मेरी आसक्ति ही कारण है। प्रभुकी क्या इच्छा है, यह तो वही जानें। कभी-कभी यह भी मन होता है कि उनकी मंगलमयी इच्छापर ही अपनेको छोड़ दूँ, पर पता नहीं क्यों, ऐसा भी नहीं हो पाता। शायद कोई छिपा अभिमान इसमें बाधक हो। जो कुछ भी हो, अच्छा-बुरा हूँ तो उनका ही।

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव-भीर॥

(४५)

निराशाकी स्थितिसे निकलनेका अमोघ उपाय

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप जो अपनेको दीन, हीन, सर्वथा निराश और नष्टजीवन मानते हैं, सो ऐसी स्थितिमें इस प्रकारके भाव प्राय: आया करते हैं। इस अवस्थामें मनुष्य यह मान बैठता है कि 'अब इस जीवनमें मेरी स्थितिमें किसी प्रकार भी सुधारकी आशा नहीं है।' वस्तुत: यह स्थिति बड़ी ही दयनीय है। आपने अपने लिये क्या करना चाहिये पूछा, सो जहाँतक मेरी समझ है, इस स्थितिमें मनुष्यको चाहिये कि वह सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण हो जाय। अपनेको सर्वथा निरुपाय मानकर भगवान्‌के चरणोंमें डाल दे। ऐसी हजारों उलझनोंसे भरी हुई और सर्वथा निराश स्थितिसे निकलनेका एक ही अच्छा उपाय है कि अपनेको भगवान्‌के भरोसे छोड़ दे और भगवान्‌की मंगलमयी इच्छाको—उनके कल्याणमय विधानको स्वच्छन्दताके साथ अभिव्यक्त होने दे। भगवान्‌की मंगलमयी इच्छामें, उनके मंगलविधानमें सभी कुछ सर्वथा सुन्दर, कल्याणमय, प्रेममय और आनन्दमय है। उसमें दीनता, हीनता, निराशा और जीवनकी नष्टताको कोई स्थान ही नहीं है। हम जो आज इतने दीन, दु:खी तथा निराश हैं इसका कारण यही है कि हमने भोगासक्तिके कारण भगवान्‌की मंगलमयी व्यवस्थासे अलग अपनी कुछ इच्छाएँ बना ली हैं और उन्हींकी पूर्तिसे जीवनमें सुख और कल्याणकी सम्भावना मान बैठे हैं। इसीसे बार-बार निराशाका सामना करना पड़ता है। इस निराशा और दु:खकी स्थितिसे पार पानेका उपाय है बस, दृढ़

विश्वासके साथ अपनेको सर्वथा पूर्णरूपसे भगवान्‌के भरोसेपर छोड़ देना। उनके प्रति पूर्ण समर्पण कर देना और यह कठिन भी नहीं है। जो सर्वथा असहाय, निराश और आश्रयहीन है, वह दीनबन्धु भगवान्‌की शरण छोड़कर और कहाँ जायगा। जगत्‌के लोग तो सफलताकी पूजा करते हैं, ऐसे असफल-जीवनको कौन आश्रय देगा। ऐसे लोगोंके लिये तो एकमात्र अशरण-शरण, करुणावरुणालय भगवान् ही परम आश्रय हैं, जो अकारण ही नित्य प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं। उनका द्वार ऐसे लोगोंके लिये सदा ही खुला है। अतएव भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करके उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करता रहे। भगवान्‌से यह न माँगे कि 'आप मेरे कष्टको, मेरी कठिनाइयोंको दूर कर दें।' यह प्रार्थना भी न करे कि 'मेरी मनचाही चीज या स्थिति मुझे दे दें।' बस, एकमात्र यही चाहे कि 'भगवान्‌की मंगलमयी इच्छा पूर्ण हो, चाहे बाह्यरूपसे वह कितनी ही पीड़ा देनेवाली क्यों न हो।' उनसे यही कहे—

मेरी चाही करनकी, जो है तुम्हरी चाह।
तो तुम्हरी चाही करो, यह है मेरी चाह॥
मेरी चाही हो वही, जो हो तुम्हरी चाह।
तुम्हरी अनचाही कभी, मत हो मेरी चाह॥
तुम्हरी चाहीमें प्रभो! है मेरा कल्यान।
मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अज्ञान॥

इस प्रकार भगवान्‌को उनकी अपनी मनचाही करनेपर छोड़ दीजिये, फिर देखिये, किस आश्चर्यभरी रीतिसे आपके जीवनकी दशा बदलती है और भगवान्‌की व्यवस्थामें आते ही किस सुन्दरताके साथ सारी व्यवस्था सुसम्पन्न हो जाती है।

इसमें सबसे पहली वस्तु है भगवान्‌पर विश्वास। भगवान्

ही एक ऐसी वस्तु हैं जिनपर विश्वास करनेपर कभी निराश और दुःखी नहीं होना पड़ता तथा जीवनमें सदा सहज ही सुख-शान्ति बनी रहती है। सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सदा सच्चे सुहृद् भगवान्पर विश्वास रखनेवाले पुरुष महान्-से-महान् विपत्ति और दुःखमें भी विचलित नहीं होते और बड़ी ही आसानीसे भगवद्विश्वासके प्रखर प्रकाशद्वारा उस दुःखके अन्धकारका नाश कर देते हैं। पर जो लोग भगवान्पर विश्वास न करके भोगोंपर विश्वास करते हैं, उनको तो पद-पदपर निराश ही होना पड़ता है!

अतएव आप भगवान्पर विश्वास कीजिये और अपनेको सचाईके साथ उनके मंगलमय विधानपर छोड़कर उनकी मंगलमयी इच्छाको प्रकट होनेका सुअवसर दीजिये। फिर आप ही सब ठीक हो जायगा।

(४६)

विपत्तिसे उबारनेवाले भगवान्

कराचीसे एक सज्जनका पत्र मिला है। वे बड़े परिवारके हैं और अर्थाभावसे बड़े संकटमें हैं। उन्होंने अर्थसंकटसे उबारनेका उपाय पूछा है और किसी अनुष्ठानके लिये राय माँगी है। साथ ही यह भी लिखा है कि उनके मालिक—वे बहुत पुराने कर्मचारी होनेपर भी, उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं कर रहे हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि असलमें अर्थसंकटका अधिकतर सम्बन्ध प्रारब्धसे है। फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोककर नया प्रारब्ध बनानेके लिये विशेष प्रबल शास्त्रीय कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता है। आजकल न तो उतनी श्रद्धा है, न विधिकी सुविधा है और न उतना धैर्य ही है। कहते हैं कि विद्यारण्य स्वामीने गृहस्थाश्रममें अर्थकी प्राप्तिके लिये गायत्रीके चौबीस पुरश्चरण किये पर कोई फल नहीं हुआ। तब उन्हें निर्वेद हो गया और उन्होंने गृहस्थका त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लिया। संन्यास ग्रहण करनेके बाद उनके सामने गायत्री देवीने प्रकट होकर वर माँगनेको कहा तब उन्होंने कहा—'माता! मैंने चौबीस पुरश्चरण किये, तब तो आप नहीं पधारीं, अब जब मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया तब आपने दर्शन दिये—इसका क्या कारण है?' गायत्रीदेवीने कहा—'तुम्हारे पचीस महापातक थे। वे ही तुम्हारे अर्थलाभमें प्रतिबन्धक थे। चौबीस पुरश्चरणसे चौबीस महापातक कटे—एक पुरश्चरण और करते तो मैं गृहस्थाश्रममें ही आकर तुम्हें वर देती। अब संन्यासग्रहणरूपी महान् पुण्यसे तुम्हारा पचीसवाँ महापातक भी कट गया—

इससे मैं अब आयी हूँ।' इसपर स्वामीजीने कहा—'अब तो मुझे धनकी आवश्यकता ही नहीं है, आप लौट जायँ।' कहनेका तात्पर्य यह कि प्रतिबन्धकके अनुसार ही प्रायश्चित्त भी होना चाहिये, तब फल होता है। आजकल तो कुछ दिन कोई अनुष्ठान किया और फल न मिला तो देवतापर अश्रद्धा हो जाती है और लोग शास्त्रोंको कोसने लगते हैं। एक भाईको किसीने एक मन्त्र बताया था, उन्होंने दस-बीस दिन जाप किया। फल नहीं हुआ तो अश्रद्धा हो गयी और उसे छोड़ने लगे। ऐसी हालतमें अनुष्ठान बतलाना और भी हानिकर होता है; क्योंकि यह तो पता होता नहीं कि किसका कितना प्रबल प्रतिबन्धक है।

असल बात तो यह है कि संसारमें जो कुछ होता है, उसे भगवान्पर छोड़कर निष्काम भावसे भगवान्का भजन करना चाहिये। यहाँ जो कुछ होना है, सो हो ही जायगा। इसीमें जीवका वास्तविक कल्याण है। पर यदि न रहा जाय तो सकाम भावसे भगवान्को पुकारना और उनसे कातर प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्से सकाम प्रार्थना करना यद्यपि बेसमझी है, पर पाप नहीं है। भगवान्की प्रार्थनासे बहुत आश्चर्यजनक फल होते देखा गया है। यहाँ नीचे मैं इंगलैण्डसे निकलनेवाले 'Science of Thought Review' नामक पत्रमें प्रकाशित एक लेखका कुछ अनुवाद देता हूँ। इससे पता लगेगा कि भगवान् किस प्रकार सहायता करते हैं। मेरा उन भाईसे अनुरोध है कि वे कातर होकर अपनी ही भाषामें विश्वासपूर्वक भगवान्से प्रार्थना करें। प्रार्थना सच्ची हुई तो आशा है उनके कष्ट-निवारणका भगवान् कोई-न-कोई उपाय अवश्य कर देंगे।

रही मालिककी बात, सो यह बात मालिकके लिये अवश्य विचारणीय है। मालिकोंको अपने कर्मचारियोंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा माता अपने पुत्रके प्रति करती है। पराया और दीन समझकर जो दयाका बर्ताव किया जाता है उसमें भी दोष है। अपनेमें बड़प्पनका अहंकार है और उसमें दैन्यका आरोपण है। पुत्रका तो माँके स्नेह और धनपर हक है। माता अपने पुत्रको कुछ देकर 'मैं उसका उपकार करती हूँ' ऐसा नहीं मानती, बल्कि जितना ही देती है उतना ही उसे सुख मिलता है। और न दे सकनेकी स्थितिमें उसे दारुण दुःख होता है। मालिकोंको भी अपने कर्मचारियोंके प्रति इसी प्रकार अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिये।

'Science of Thought Review' में श्रीयुत सिडनी एच० विल्सन महोदय लिखते हैं—

'भगवान्‌पर जिनका विश्वास है, उन्हें विपत्तिसे उबारनेके लिये भगवान् पूर्ण समर्थ हैं। इसके लिये कोई बहुत बड़े अलौकिक विश्वासकी आवश्यकता नहीं है, वरं उस सर्वशक्तिमान् परमात्मामें शान्त, अचल तथा कभी कम न होनेवाला विश्वास रखना ही पर्याप्त होगा। उन्होंने सदा भक्तोंकी पुकार सुनी है और अब भी सुनते हैं, क्योंकि भगवान्‌ने जो कुछ किया है, उसे बराबर करते चले आ रहे हैं, हाँ, उनपर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति होना चाहिये। भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाले नर-नारी असफलता एवं हृदयविदारक परिस्थितियोंके सम्मुख होते हुए भी एक विलक्षण बल प्राप्त कर सकते हैं और कह सकते हैं कि यह परिस्थिति मुझे भयभीत नहीं कर सकती, क्योंकि मेरी आँखें उन भगवान्‌पर लगी हैं जो मेरे

दैनिक जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिपर निरीक्षण रखते हैं और जो विपत्तिसे उबारनेमें पूर्ण समर्थ हैं।

एक मनुष्य अशक्त एवं सामर्थ्यहीन था, किन्तु उसकी स्त्री बड़ी साहसी थी। परिवारके भरण-पोषणका खर्च चलानेके लिये वह नित्य बाहर कमाने जाया करती थी। उसका पति 'ट्रूथ' (सत्य) नामक पत्रिकाका पाठक था। एक दिन वह घरके एक कमरेमें बैठा था। वहींसे उसने सुना कि दूसरे कमरेमें उसकी स्त्री असहायकी भाँति सिसक-सिसककर रो रही है। उसने विपत्तिका अनुमान लगा लिया। उसकी स्त्रीने कड़े परिश्रमसे कमाये हुए कुछ धनको बड़े हौसलेसे इसलिये रख छोड़ा था कि उससे वह परिवारके लिये आवश्यक कुछ छोटी-मोटी चीजें खरीदेगी। किन्तु उसने देखा कि वह पैसा प्रतिदिनके व्ययमें ही उड़ गया। उसके पास एक पैसातक न रह गया था। यहाँतक कि आगामी सप्ताहका साधारण खर्च भी वह नहीं चला सकती थी। उसके पतिको पत्नीकी इस दशापर बड़ा दुःख हुआ। किन्तु वह जानता था कि इस समय केवल शाब्दिक सहानुभूति दिखानेसे उसकी आत्मग्लानि और भी बढ़ेगी, क्योंकि पहले भी इसी प्रकारकी परिस्थितियाँ आ चुकीं थीं, जिनका उसे पूरा अनुभव था फिर भी वह बड़ा चिन्तित हुआ और उसने भगवान्‌की शरण ली, जो एकमात्र सहायक हैं।

पहले तो उसे इस बातपर अविश्वास हुआ कि ईश्वरके भक्तोंपर जो हृदयविदारक दशाएँ आती हैं, वे यथार्थतः भगवदिच्छाकी परिचायक हैं। इसके बाद उसने दृढ़ताके साथ स्वीकार किया कि हमारे सभी कार्योंका भार भगवान्‌पर है अतः न तो उसे, न उसके प्रिय परिजनोंको ही किसी अच्छी

वस्तुका अभाव हो सकता है। बस, उसने सब कुछ इसी विश्वासपर छोड़ दिया। अब भी उसकी स्त्री सिसक और रो रही थी, किन्तु वह अपने कामपर चला गया। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि भगवान्‌पर विश्वास होते हुए भी वह कर्तव्यसे विमुख नहीं हुआ। अशक्त शरीरसे जितना भी पुरुषार्थ वह कर सकता था, उसे करनेपर वह उद्यत हो गया।

लगभग एक घण्टेतक कार्य करनेपर उसे एक पौण्ड (लगभग १५ रुपये) मजदूरी मिली, जिसकी उसे कभी आशा न थी। उसने सब लाकर अपनी पत्नीके हाथपर रख दिया। उसकी पत्नीको भी बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन उसने एक लेख लिखा और परीक्षाके रूपमें उसे भेज दिया कि देखें यह प्रकाशित होता है या नहीं। चार दिन बाद उसी लेखके पारिश्रमिक-स्वरूप उसे ३ पौण्ड ३ शिलिंगका एक चेक प्राप्त हुआ। भगवान् देते हैं तो छप्पर फाड़कर देते हैं। उनकी दया हो जानेपर अनायास ही चारों ओरसे प्राप्ति होने लगती है। इसके पश्चात् दस ही दिनके भीतर ५ पौण्ड ५ शिलिंगका एक दूसरा अप्रत्याशित चेक मिला। यह उपहाररूपमें भेजा गया था और ऐसी इच्छा प्रकट की गयी थी कि 'इसे घरके काममें खर्च किया जाय।'

इस चेकको भेजनेवाली एक महिला थीं, जो वहाँसे २०० मीलकी दूरीपर रहती थीं। सोचिये, उस दयालु महिलाने इस संकटग्रस्त परिवारकी आवश्यकताको इतनी दूरसे कैसे जाना? निश्चय ही वे नहीं जानती थीं, किन्तु ईश्वर (जिनसे प्रार्थनाद्वारा सम्बन्ध जोड़ लिया गया था) इस व्यक्तिकी आवश्यकताको जानते थे और उन्होंने इसकी पूर्तिके लिये उस महिलाके हृदयमें प्रेरणा की।

भगवान्‌की विपत्तिसे उबारनेकी क्षमता देखिये। एक कमरेमें सिसकती हुई पत्नी है, जिसके पास एक अधेला नहीं है। दूसरे कमरेमें अशक्त और सामर्थ्यहीन पति है जो अपने प्रियजनोंकी ओरसे भगवान्‌पर विश्वास रखकर उनकी प्रार्थना कर रहा है तथा चौदह दिनके भीतर नौ पौण्डसे अधिककी प्राप्ति हो जाती है, जिसकी आशा न थी। साधारण व्यक्तिके लिये ये बातें यों ही घटित होनेवाली घटनाएँ हैं, किन्तु उसके लिये, जिसकी समस्त आशाएँ भगवान्‌पर ही अवलम्बित हैं, भगवान्‌की शक्तिमत्ता, प्रेम और योग-क्षेम-वहन करनेकी सुन्दर भावना प्रकट करती हैं।

भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाले व्यक्तिके जीवनमें इस प्रकारकी परीक्षाएँ बराबर होती रहती हैं। एक दूसरे अवसरपर उसी अशक्त व्यक्तिको भगवान्‌की विपत्ति-उद्धारक शक्तिके अपने विश्वासकी बहुत कठिन परीक्षाका सामना करना पड़ा था। उसका लड़का, जो मन्द बुद्धिका था, बहुत भारी अपराधमें फँसा लिया गया था। बात यह थी कि एक नौजवान और अकारण ही बहुत साधारण बातपर भी कड़ी कार्रवाई करनेवाले सिपाहीने उस लड़केके विरुद्ध अभियोग गढ़ लिया था। वह सोचता था कि इसके फलस्वरूप उसकी उन्नति हो जायगी, जिसका वह बड़ा इच्छुक था। किन्तु बादको यह सिद्ध हो गया कि यह उसका मनगढ़न्त अभियोग था।

असत्य सिद्ध होनेके पहले अभियोग तो न्यायालयमें विचारार्थ गया ही। लड़केकी माँको लज्जा और लड़केके छूटने-न-छूटनेके असमंजसके कारण कितनी पीड़ा हुई होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। उसका संकट इस बातसे और भी बढ़ गया था कि लड़केको लेकर न्यायालयमें उपस्थित होनेका

भार उसीके कन्धोंपर था। क्योंकि उसका रुग्ण तथा अशक्त पति यह कार्य नहीं कर सकता था, किन्तु उसका पति शरीरसे असमर्थ होते हुए भी उस सारे कार्यके सम्पादनके लिये भगवान्‌की शक्ति लाकर अपने प्रियजनोंकी सहायता करनेमें समर्थ था। उसने भगवान्‌से प्रार्थना की और नित्य वह यह समझकर उनका ध्यान करता रहा कि हम जो कुछ सोच या कह सकते हैं, उससे कहीं अधिक करनेकी शक्ति भगवान्‌में है।

दिन-पर-दिन बीत रहे थे और लड़केका पक्ष स्पष्टतः निर्बल होता जा रहा था। ऐसा अनुमान होता था कि इस अभियोगमें सरकारी पक्षकी विजय होगी।

उधर नित्यकी प्रार्थनाद्वारा भगवान्‌पर विश्वास स्थिर किया जा रहा था। लड़केके पिताने सोचा कि सिपाही अपना कर्तव्य समझकर अपनी समझसे ठीक ही कर रहा था। अतः नित्यकी प्रार्थनामें उस सिपाही तथा तत्सम्बन्धी समस्त व्यक्तियोंको क्षमा कर देनेका भाव उसके मनमें रहता था और उनके प्रति उसकी शुभकामना थी। लड़केको दण्ड दिलानेके पक्षमें जितने गवाह थे, उनको भी उसने क्षमा कर दिया था और उनके लिये भी वैसे ही प्रार्थना किया करता था। इसके बाद उसने सोचा कि समस्त कार्योंपर यहाँतक कि न्यायाधीश और गवाहोंपर भी भगवान्‌का नियन्त्रण है। अतः मामलेकी सत्यता अवश्य प्रकाशमें आनी चाहिये।

लड़केका पिता और कुछ नहीं, केवल न्याय चाहता था। यदि लड़का सचमुच अपराधी है तो न्यायतः उसे अपराधका दण्ड भोगना ही चाहिये और यदि लड़केके विरुद्ध लगाया हुआ अभियोग झूठा है तो वह प्रार्थना करता था और उसे दृढ़ विश्वास था कि भगवान् सत्यको प्रकाशित करेंगे।

अभियोगकी सुनवाईके दिन सारा मामला ही पलट गया। एक प्रमुख गवाह जब गवाहोंके कठघरेमें खड़ा हुआ तो किसी अज्ञात कारणसे वह गूँगा हो गया और लड़केके विरुद्ध कोई प्रमाण न दे सका। सब कुछ एक अच्छा तमाशा हो गया। अभियोग समाप्त कर दिया गया और सब लोग घर चले गये।

भगवान्‌के भक्तोंपर कोई भी शस्त्र काम नहीं कर सकता किन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम प्रार्थना करें; क्योंकि प्रार्थना वह तलवार है, जो सहस्रों युद्धोंमें परीक्षित् और प्रमाणित है अर्थात् प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। भगवान् हमारी प्रार्थनाके द्वारा अपने अनन्त प्यारके कारण हमें तथा हमारे उन सब प्रियजनोंको, जिनके लिये हम प्रार्थना करते हैं, विपत्तिसे उबारनेमें समर्थ हैं—इस प्रकारके जितने अधिक विश्वासके साथ हम भगवान्‌की प्रार्थना करेंगे, हमारी उतनी ही अधिक सहायता भगवान् करेंगे।

(४७)

मान-बड़ाईसे बचिये

आपका पत्र मिला था। इधर काम-काज बहुत अधिक रहा, इससे समयपर उत्तर नहीं दिया जा सका। मनुष्यमें यह एक बड़ी दुर्बलता है कि वह अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थितिको भूलकर अपने सम्बन्धमें लोगोंकी मिथ्या उच्च धारणाको स्वीकार कर लेता है। आप सोचिये तो, किसी कंगालको यदि दूसरा कोई पुरुष या समाजके बहुसंख्यक लोग भी बड़ा धनी मानकर उसकी प्रशंसा करने लगें तो इससे क्या वह धनी हो जाता है? दूसरोंकी प्रशंसासे उसे क्या लाभ हुआ? इसी प्रकार हमारे अन्दर यदि सद्गुण नहीं हैं, हमारे हृदयमें यदि प्रभुके प्रति निष्काम प्रेम नहीं है, हमारे पास यदि भगवान्के भजनका परम धन नहीं है और लोग हमें बड़ा सद्गुणसम्पन्न, बड़ा प्रेमी और बड़ा भजनानन्दी मानते हैं तो इससे हमें क्या मिल गया और हमारा क्या उपकार हो गया? और यदि इसको हम स्वीकार कर लेते हैं तो अपनेको धोखेमें डालनेके अतिरिक्त और क्या करते हैं। इस झूठी बड़ाई तथा मिथ्या सम्मानके बोझको उठाकर हम सिवा बोझसे मरनेके और कुछ भी तो नहीं पा सकेंगे।

बड़ाई तथा सम्मान यदि सच्चे गुणोंको लेकर भी हों, तो भी साधकके लिये उनका स्वीकार करना परम हानिकर है। जहाँ मान-बड़ाईमें मिठास आया (और वह आता ही है), वहीं हमारी क्रियामेंसे वास्तविकता निकल जायगी और हम वही काम करने लगेंगे, जिसमें हमें लोगोंके द्वारा सम्मान

मिले एवं लोग हमारी प्रशंसा करें। मतलब यह कि फिर हमारे कार्य सत्यकी सेवा—प्रभुकी भक्तिके लिये न होकर केवल लोकरंजनके लिये होंगे, फिर वे चाहे अकार्य या अधर्म ही क्यों न हों और उनसे परिणाममें हमारा परम अकल्याण ही क्यों न होता हो। इसलिये साधकको चाहिये कि वह सदा सचेत रहे और मान-बड़ाईका दूरसे ही त्याग करता रहे। उन्हें पास भी न आने दे। साधकका आचरण विषयी पुरुषसे सर्वथा प्रतिकूल होना चाहिये तभी उसे साधनामें सिद्धि मिलती है और तभी वह सिद्धावस्थाके समत्वमें स्थित होता है। विषयी मान-बड़ाईका भूखा रहता है और इन्हें पानेके लिये कोई भी अकार्य करनेको तैयार रहता है। पर साधक मान-बड़ाईको विषवत् मानकर उनका त्याग करता है तथा अपमानके योग्य किसी भी निन्दनीय कार्यको न करता हुआ भी अपमान और निन्दाको अपने लिये शुभ समझता है एवं बड़ी प्रसन्नतासे इनका वरण करता है। वही जब सिद्ध-अवस्थामें पहुँच जाता है, तब उसके लिये मानापमान और निन्दा-स्तुति समान हो जाते हैं। अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान् उन्हें मानापमानको तथा निन्दा-स्तुतिको समान माननेवाले बतलाते हैं। '**मानापमानयोस्तुल्यः**', '**तुल्यनिन्दास्तुतिः।**' (गीता १४, १२ अध्याय)

आपकी जो बड़ाई हो रही है तथा आपको जो सम्मान मिल रहा है, आप इनको अपनी साधनाका विघ्न मानिये। भजन तो खूब कीजिये और भी बढ़ाइये, परन्तु मान-बड़ाईको तनिक भी पास मत फटकने दीजिये। इसीलिये भक्तलोग अपने भजन-धनको बहुत छिपाकर रखा करते हैं, वैसे ही जैसे सम्भ्रान्त कुलकी कोई नारी जारके प्रेमको गुप्त

रखती है। पर यदि अब आपके लिये ऐसा सम्भव न हो तो आप मान-बड़ाईको स्वीकार मत कीजिये। सम्भव हो तो लोगोंको नम्रता और विनयके साथ रोकर समझा दीजिये कि 'जब आपलोग मेरे हितैषी हैं, मेरा पतन नहीं चाहते हैं और कल्याण ही चाहते हैं, तब फिर मुझे मान-बड़ाई देकर मेरा अकल्याण क्यों कर रहे हैं। मेरे पतनका मार्ग क्यों प्रशस्त कर रहे हैं।' और यदि वे मान जायँ तो बहुत ही अच्छी बात है। परन्तु यहाँ भी बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनको तो मान-बड़ाई प्रिय लगते हैं और उन्हें प्राप्त करनेकी लालसा भी रहती है; परन्तु ऊपरसे उनका विरोध किया जाता है, वह इस अभिप्रायसे कि ऐसा करनेपर लोगोंकी यह धारणा होगी कि ये कितने अच्छे पुरुष हैं, जो मान-बड़ाईको सर्वथा नहीं चाहते और इसके लिये इतने दुःखी होकर—रो-रोकर प्रार्थना करते हैं—और फलतः वे पहलेसे भी अधिक सम्मान और प्रशंसा करने लगेंगे।

मनके इस दुर्भावकी परीक्षा दूसरे सहजमें नहीं कर पाते—यह तो स्वयं आपके ही देखनेकी चीज है। आप अपने मनसे मान-बड़ाईको सचमुच बुरा समझने लगें और जैसे किसीके द्वारा आदरपूर्वक दिये जानेपर भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने लिये हानिकर और घृणित वस्तुको स्वीकार नहीं करते, वैसे ही मान-बड़ाईको स्वीकार न करें। फिर यदि कहीं कोई आपका सम्मान कर भी देगा, बड़ाई कर भी देगा तो उससे आपकी हानि नहीं होगी। यद्यपि साधकको इससे बचना ही चाहिये, क्योंकि यह मीठा विष है और है अत्यन्त आकर्षक। समझता हुआ भी मनुष्य मोहवश इसे स्वीकार

कर लेता है। इसीलिये कोई-कोई सन्त जान-बूझकर ऐसी चेष्टा किया करते हैं कि जिससे लोगोंके हृदयोंमें उनके प्रति जो सम्मानकी भावना होती है, वह नष्ट हो जाय। यह तो सच्चे सद्गुणोंके लिये प्राप्त होनेवाले सम्मान और प्रशंसाके लिये बात हुई। जहाँ बिना ही किसी सद्गुणके कोई अपनी बड़ाई या सम्मान करे और उसे हम स्वीकार कर लें तो यही समझना चाहिये कि या तो हम महामूर्ख हैं, या हममें किसी अंशमें दम्भ आ गया है जो हमारा पतन करके छोड़ेगा। मैं मानता हूँ— आपमें सद्गुण हैं और लोग आपका जो सम्मान तथा प्रशंसा करते हैं, वे सम्भवतः सद्भावसे ही करते हैं तथापि उन्हें स्वीकार करना न तो आदर्श है और न आपके लिये तनिक भी लाभदायक ही है। हानिकारक तो प्रत्यक्ष ही है। मान-बड़ाईको सुनकर मनुष्यमें कहीं अपने सम्बन्धमें यथार्थसे अधिक उच्च धारणा हो गयी कि वह डूब गया। फिर उसमें अनेक दोष अपने-आप ही आ जायँगे।

असलमें मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर अपनेको देखता रहे—मैं किस ओर जा रहा हूँ, मेरे पास कितना धन है, मैं किस स्थितिमें हूँ। और यह सब भलीभाँति देखकर जैसा अपनेको पावे, वैसा ही समझे और दोष हों तो उन्हें स्पष्ट व्यक्त कर दे, एवं कदाचित् कुछ गुण हों तो उन्हें छिपा ले तथा अपनेसे अधिक सद्गुणवालोंकी ओर देखकर—अनन्त अपार कल्याणगुण-सागर श्रीभगवान्के गुणोंका स्मरण कर अपनेको तुच्छ समझे, मनमें जरा भी अभिमानका अंकुर न उत्पन्न होने दे। इसीमें उसका कल्याण है।

धनी तो मनुष्य धन होनेपर ही हो सकता है, लोगोंके

कहनेसे नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर भजनरूपी धनको बढ़ाना चाहिये और उसके लिये उत्तरोत्तर लोभ भी अधिक-से-अधिक करना चाहिये। विषयोंका लोभ जितना हानिकारक है उतना ही भजनका लोभ महान् लाभदायक है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्गुण भी यदि भगवान्से सम्बद्ध हो जाते हैं तो सद्गुण बन जाते हैं।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्द—इनमेंसे कोई भी भाव भगवान् श्रीहरिके साथ जोड़ दिया जाय तो फिर वह भाव भगवद्रूप ही हो जाता है।'

मेरे इस पत्रसे आपको कुछ भी सत्-प्रेरणा मिली तो आप उसे भगवान्की कृपा समझिये। मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

(४८)

लोकोपकारके नामपर मान-बड़ाई

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपका यह लिखना ठीक है कि 'यदि लोगोंका उपकार होता हो तो अपनेको सम्मान स्वीकार करनेमें भी क्यों असम्मत होना चाहिये। बिना श्रद्धाके कोई भी मनुष्य हमारे बतलाये हुए मार्गपर चलता नहीं और श्रद्धा होनेपर सम्मान स्वाभाविक हो ही जाता है। यदि उस सम्मानमें हमारी कोई आसक्ति नहीं है तो फिर हमें उसमें क्या हानि है और क्यों हमें उसका विरोध करना चाहिये?' इसका उत्तर यह है कि यदि आपका मन सर्वथा अनासक्त हो गया है तब तो आपके लिये कोई हानि नहीं है, परन्तु उसमें भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे तो हानि है ही। मान लें आप अनासक्त हैं पर सब लोग तो अनासक्त नहीं हैं; आपकी देखा-देखी उन सम्मान चाहनेवाले लोगोंको मान प्राप्त करनेमें सुविधा होगी, वे इससे अनुचित लाभ उठाना चाहेंगे और फलतः उनका पतन होगा। इस दृष्टिसे भी मानका स्वीकार करना अनुचित है। परन्तु असल बात तो दूसरी ही है। मान-बड़ाईकी वासना इतनी सूक्ष्मरूपसे मनमें रहती है कि बहुत बार तो उसके अस्तित्वका प्रत्यक्ष पता ही नहीं लगता। कई बार मन ऐसा धोखा देता है कि कर्तव्य और धर्मके सुन्दर सुनिर्मल स्वरूपमें वह मोहको लाकर सामने खड़ा कर देता है और मनुष्य उसके वशमें होकर भगवान्के बदले मायाकी गुलामीमें लग जाता है। वह समझता है, मैं सेवा कर रहा हूँ, लोकोपकार कर रहा हूँ, और करता है तुच्छ मान-बड़ाईका दासत्व! ऐसा भी देखा गया है कि 'अमुक व्यक्ति जरा भी सम्मान नहीं चाहता, कितना बड़ा त्यागी सन्त है' लोगोंके द्वारा इस प्रकार समझे जाने तथा कहलानेके लिये मनुष्य मिलते हुए सम्मानका

तिरस्कार कर देता है। असलमें अपना मन ही इस रहस्यको जान सकता है। पर मान-बड़ाईकी प्राप्तिमें यदि मनमें हर्ष होता हो तो जान लेना चाहिये कि मान-बड़ाईमें आसक्ति और कामना है, चाहे वह ऊपरसे न प्रतीत होती हो।

पर लोकोपकारके नामपर मान-बड़ाईका स्वीकार करना तो अधिकांशमें धोखेकी ही चीज है। मेरी तो ऐसी ही समझ है। आपकी स्थिति किस प्रकारकी है, मैं नहीं जानता; परन्तु आपकी बातोंमें मुझे तो धोखा अवश्य मालूम होता है। इसलिये मैं आपसे पुनः सावधान रहनेके लिये नम्र अनुरोध करता हूँ। लोगोंमें भजन-सत्संगका प्रचार हो, यह बहुत अच्छी बात है; परन्तु उसका साधन 'आपका सम्मान' हो, यह आवश्यक नहीं है बल्कि यह हानिकारक है। और इसका परिणाम भजन-साधनको प्रायः घटानेवाला ही होगा, ऐसी मेरी धारणा है। जो लोग सभाओंमें मानपत्रादि स्वीकार करते हैं, आनन्दका आस्वादन करते हुए अपने मुँहपर अपनी मिथ्या प्रशंसाके गीत, काव्य और भाषण सुनते हैं और उसमें रसका अनुभव करते हैं, वे तो निश्चय ही अपने हाथों अपनी हानि कर रहे हैं। आप यह निश्चय मानिये कि मुँहपर बड़ाई करनेवालोंकी अधिकांश बातें अत्युक्तिपूर्ण और मिथ्या होती हैं। ऐसी प्रशंसाको सुनकर जो लोग अपनेको बड़ा मान लेते हैं वे वस्तुतः बुद्धिहीन हैं। सच्ची बात तो यह है कि हमारी निन्दा करनेवालोंमें लगभग आधेसे अधिक सच्ची निन्दा करनेवाले और फलतः हमें लाभ पहुँचानेवाले होते हैं। जो लोग प्रशंसा सुनकर तनिक भी हर्षके विकारसे ग्रस्त नहीं होते और निन्दा सुनकर धीरताके साथ गहराईसे आत्मनिरीक्षण करने लगते हैं, वे ही सच्चे बुद्धिमान् साधक हैं। × × × × शेष भगवत्कृपा।

(४९)

परदोष और परनिन्दासे बचना चाहिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर विलम्बसे जा रहा है, इसके लिये कृपया क्षमा करें। जहाँतक बने, दूसरेके दोष देखने और दूसरोंकी निन्दा करनेसे बचना चाहिये वरं कहीं किसी कारणवश किसीकी निन्दा हो जाय तो उसके लिये चित्तमें पश्चात्ताप होना चाहिये तथा भविष्यमें ऐसा नहीं होगा, इस प्रकारका मनमें दृढ़ निश्चय करना चाहिये। इसी प्रकार अपने बड़े पुरुषोंका कभी तिरस्कार न करके सदा सम्मान करना चाहिये। साधु-स्वभावके साधक ऐसा ही किया करते हैं। महाभारतमें आता है—

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः॥
अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम्।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः॥

'साधुलोग दूसरोंकी निन्दा करके जैसे परितप्त होते हैं, दुष्टलोग दूसरोंकी निन्दा करके वैसे ही सन्तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार जैसे सत्पुरुष बड़े-बूढ़ोंका अभिवादन करके सुखी होते हैं, वैसे ही मूर्खलोग सत्पुरुषोंकी निन्दा करके प्रसन्न होते हैं।'

दूसरोंके दोषदर्शन, परनिन्दा और वृद्धों तथा सत्पुरुषोंका अपमान करनेमें मनुष्यका अभिमान ही प्रधान कारण है। अभिमानसे जिसकी आँखें चौंधियायी हुई होती हैं, उसको सभीमें दोष दीखते हैं, वह अपनेको तथा अपनी बुद्धिको ही सर्वश्रेष्ठ मानता है, इसलिये सबकी निन्दा करता है तथा

सभीका अपमान-तिरस्कार कर बैठता है। मनुष्य यदि अपनी ओर तथा अपने ज्ञानकी ओर यथार्थ रूपसे देखे तो उसे पता लगेगा कि अनन्त अपार ज्ञानके समुद्रका एक कण भी उसे प्राप्त नहीं है। वह जन्मभर दिन-रात सीखता ही रहे तो भी ज्ञानका अन्त नहीं आवेगा। उसकी अपेक्षा बहुत ही अधिक जाननेवाले लोगोंकी इतनी अधिक संख्या है कि उनके सामने उसका कहीं पता ही नहीं लगता। परन्तु वे भी सब कुछ जान गये हों, ऐसी बात नहीं है, उनसे अधिक जाननेवाले भी हैं। जिस प्रकार ज्ञानका अभिमान मिथ्या और मूर्खतापूर्ण है, उसी प्रकार धन, अधिकार तथा अन्यान्य पदार्थों या स्थितियोंका अभिमान है। धन, अधिकार और उच्च स्थिति आदिका क्या मूल्य है। प्रथम तो वे स्वल्प और अपूर्ण हैं; दूसरे जितने जो कुछ हैं, वे भी अनित्य ही हैं। आज हैं, कल नहीं। ऐसी अवस्थामें उनपर गर्व करना, उनको लेकर अपनेमें उच्चताका आरोप करना और दूसरोंको नीचा समझना वास्तवमें मूर्खता ही है।

मनुष्यको जहाँतक बने, अपने दोष देखने चाहिये, उनके लिये अपने मन-ही-मन निन्दा करनी चाहिये तथा अपनेको निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। सब लोग ऐसा करने लगें तो सभी निर्दोष हो जायँ और समाजका अपने-आप सुधार हो जाय। व्यक्तियोंका समुदाय ही तो समाज है। समाजका प्रत्येक व्यक्ति निर्दोष हो गया तो समाज स्वयमेव निर्दोष हो गया। परन्तु भूल तो यहीं होती है। मनुष्य अपनी बुराइयोंकी ओर नहीं देखता, वरं छोटी बुराई भी बहुत बड़ी दीखे, इस प्रकारका चश्मा चढ़ाकर दूसरोंकी बुराइयोंको देखता है। अपने द्वेष-दम्भ और हिंसा-प्रतिहिंसाभरे हृदयसे दूसरोंकी

बुराइयोंको मिटानेका प्रयत्न करता है। फलतः बुराइयाँ और भी बढ़ जाती हैं—अपनेमें भी तथा दूसरोंमें भी। इससे सभीकी हानि होती है। साधकको तो बड़ी सावधानीसे इस दोषसे अपनेको बचाना चाहिये। दूसरोंके दोष देखनेका उसको न तो अवकाश मिलना चाहिये और न उसके पास ऐसी आँखें ही होनी चाहिये।

तेरे भावैं जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठ कर अपनो भवन बुहार॥

फिर, यदि दूसरेमें कोई दोष दिखलायी दे भी जाय तो वहाँ यह विचार करना चाहिये कि 'सम्भव है यह दोष इसमें न हो, मेरी दोष-दृष्टिसे ही ऐसा दिखायी देता हो।' बहुत बार हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हमने किसी मनुष्यके सम्बन्धमें जो धारणा की थी, वह गलत थी, हमारी ही समझकी भूल थी और उस भूलके लिये हम कभी-कभी पश्चात्ताप भी करते हैं। सम्भव है, इस बार भी वैसी ही भूल हुई हो। दूसरे, यह देखना चाहिये कि उसमें जो दोष है (जैसे वह झूठ बोलता है, चोरी करता है, क्रोध करता है आदि), वही या वैसा ही दूसरा कोई दोष हममें है या नहीं। यदि शान्त वृत्तिसे देखा जायगा तो स्पष्ट दिखलायी देगा कि दूसरोंकी अपेक्षा हममें वैसे दोष बहुत अधिक मात्रामें हैं—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

तीसरे, यह सोचना चाहिये कि उसने किस परिस्थितिमें पड़कर यह दोष किया है। उस परिस्थितिमें हम होते तो क्या करते। दूसरोंकी आलोचना करना, उसके दोषोंका बखान

करना और उपदेशकी बातें कहना जितना सहज है, परिस्थितिमें पड़कर धीरता-वीरताके साथ उससे बच निकलना उतना ही कठिन है। चौथे, यह बात अवश्य विचारणीय है कि हमारा लाभ दूसरोंके दोष देखने, उनकी निन्दा करनेमें है या गुण देखकर उन्हें ग्रहण करनेमें है। इसपर विचार किया जाय तो यह निर्विवाद सिद्ध होगा कि हमारा लाभ गुण देखने और उनके ग्रहण करनेमें ही है।

इन सब बातोंपर विचार करके आप अपनी आदतको ठीक कीजिये। आप अभी नौजवान हैं, आपके सामने आगे बढ़नेके लिये बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। दूसरोंकी ओर ध्यान न देकर आप अपनेको सुधारनेमें ही लगे रहिये। इसीमें आपका कल्याण है। × × × शेष भगवत्कृपा।

(५०)

पूजा-प्रतिष्ठासे बचिये

प्रिय महोदय, सादर-हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपने लिखा कि 'समय बहुत अच्छा बीत रहा है, भजन-साधनके साथ ही मैं आजकल प्रवचन भी करता हूँ, बहुत लोग सुननेको आते हैं, लोगोंका प्रेम तथा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।' सो बहुत आनन्दकी बात है। भगवान्‌के प्रति लोगोंमें प्रवृत्ति हो, उनका उत्साह-उल्लास बढ़े और वे भजन-साधन करनेमें लगें—यह बहुत ही उत्तम बात है। जो लोग स्वयं भगवान्‌का स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं, वे निश्चय ही धन्य हैं। एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'मनुष्योंमें वे लोग धन्य हैं और निश्चय ही कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्‌के नामका स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।'

इस दृष्टिसे आपका कार्य बहुत ही सराहनीय है। परन्तु एक सुहृद्‌के नाते मेरा आपसे निवेदन है कि आप सदा-सर्वदा आत्मनिरीक्षण करते रहियेगा। आप शुद्ध वैराग्यके भावसे, केवल भगवत्स्मरण एवं भजन-ध्यानके लिये ही घरसे निकले हैं—ऐसा आप मानते हैं। अतएव यह ध्यान रखिये कहीं वैराग्य और भजनके पवित्र स्थानमें बड़प्पनका या गुरुपनका अभिमान, मान-सम्मानकी इच्छा और लोगोंका मनोरंजन करके उनसे विषय प्राप्त करनेकी लालसा न जाग्रत् हो जाय।

पता नहीं लगता—जब मनुष्य भजन-साधन करने लगता

है, घर त्यागकर संन्यासी हो जाता है, वैराग्यका अभ्यास करता है, आहार-विहार आदिमें संयम-नियमका पालन करता है, श्रीभगवन्नाम-गुण-कीर्तनमें कभी मस्त हो जाता है, तब सरल हृदयके नर-नारी उसे भक्त या महात्मा मानकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगते हैं, उससे उपदेश प्राप्त करके भवसागरसे पार होना चाहते हैं, उसे अपनी जीवन-नौकाका कर्णधार गुरु मानने एवं कहने लगते हैं और ऐसी स्थितिमें यदि इन बातोंमें उसे जरा भी रस आने लगता है तो संयम-नियमके साधन, भगवद्भजन तथा सत्संगके प्रभावसे जो कामना-वासनाएँ तथा दुर्गुण-दुर्विचार हृदयमें लुप्त-से हो गये थे, छिप गये थे, जिससे उसने मान लिया था कि मैं काम, क्रोध, लोभ, मान और मोहादिसे मुक्त हो गया हूँ, वे कामना-वासनाएँ और दुर्गुण-दुर्विचार पुनः प्रबलरूपमें जाग उठते हैं, जो उनकी सारी साधन-सम्पत्तिको सहज ही लूटकर उसके अन्दर धन-मान-प्रतिष्ठाकी प्रत्यक्ष और प्रबल भूख उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उसका जीवन सचाईसे दूर हटकर निरी कृत्रिमताका तथा दम्भका केन्द्र बन जाता है। वह फिर अपने व्याख्यानों, प्रवचनों, कथाओं, कीर्तनों और प्रेम तथा ध्यानकी नकली भाव-भंगिमाओंसे उन नर-नारियोंको रिझाकर उनसे अपनी वासना-कामनाकी तृप्ति करनेके प्रयत्नमें लग जाता है। भलीभाँति आत्मनिरीक्षण करनेपर मनके इस दोषका पता लग सकता है। कभी मनकी ऐसी स्थिति मालूम दे तो सावधान हो जाना चाहिये तथा लोगोंके सामने किये जानेवाले व्याख्यानों, प्रवचनों एवं कीर्तनोंको छोड़कर एकान्तमें भगवान्‌के सामने रो-रोकर कातर प्रार्थना करके अपनी स्थिति रखनी चाहिये और उनसे रक्षाकी भीख माँगनी चाहिये।

आपको यह सर्वथा सावधानीके साथ देखते रहना चाहिये कि आपकी क्रिया और चेष्टा लोकरंजनार्थ—लोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये तो नहीं हो रही है। वे जब आपको फूलोंका हार पहनाते हैं, चन्दन लगाते हैं, मान-सम्मान करते हैं, पैर छूते हैं, भक्त, जीवन्मुक्त महात्मा, महाभागवत, महापुरुष या भगवान् कहकर सिर नवाते हैं, आपके आचरण, साधन या स्थितिकी बड़ाई करते हैं, आपको अपना पथप्रदर्शक या गुरु बनाना चाहते हैं, सरल हृदयसे अपनी दुरवस्थाको आपके सामने रखकर उससे त्राण करने और भगवत्प्रेम प्रदान करनेकी प्रार्थना करते हैं, उस समय आपका मन क्या कहता है। क्या उससे आपके मनमें उस समय आनन्द आता है? उस मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठामें रस, सुख तथा गौरवकी अनुभूति होती है? उन लोगोंकी इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान करने एवं पैर पूजनेकी प्रवृत्तिको आप उत्साह देते हैं, उनकी भक्ति, श्रद्धा मानकर प्रसन्न होते हुए उसे अच्छा बतलाते हैं या इन सब कार्योंका विरोध करते हैं? विरोध करते हुए भी क्या आपके मनमें कभी ऐसी बात आती है कि विरोध करनेपर ये नर-नारी मुझे और भी अधिक ऊँची स्थितिका महात्मा या प्रेमी समझेंगे और मेरी इस विनम्रतापर विशेष मुग्ध होकर मेरा विशेष सम्मान करेंगे?

यदि आपको मान-पूजामें—चरणस्पर्श कराने आदिमें रस आता है, प्रसन्नता होती है, आप सुखका अनुभव करते हैं, अथवा 'इसमें अपना एवं उनका कल्याण होगा' ऐसा मानते-कहते हैं। दुःख, संकोच और लज्जाका अनुभव नहीं होता, यह एक 'महान् पतन करानेवाला साधनका प्रधान विघ्न' है,

ऐसा नहीं मानते तो निश्चय समझिये, आपका पतन हो रहा है। आप परमार्थके पुण्य-पथसे च्युत हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सावधान हो जाइये।

धन और स्त्रीके संसर्गसे तो सदा-सर्वदा सर्प तथा अग्निसे बचनेकी तरह सर्वथा बचे ही रहिये; मान, प्रतिष्ठा, पूजा, यश, कीर्तिकी भी कभी जरा भी इच्छा मत कीजिये।

यह बड़े आश्वासनकी बात है कि आप अपनी कमजोरियोंको स्वीकार करते हैं और अपनी मानस-स्थितिको समझते हैं; पर इतनेपर भी आप उन कार्योंको कर ही रहे हैं, जिनका परिणाम आपके लिये अहितकर हो सकता है—यह अवश्य दुःखकी बात है। मेरी रायमें अभी आपको चाहिये कि आप दूसरोंको उपदेश देना बन्द कर दें। पूजा-प्रतिष्ठाको कभी स्वीकार न करें। किसीको चरण न छूने दें। वर्तमान स्थानको छोड़ दें और कहीं अन्यत्र जाकर नियमपूर्वक भजन करें। भजनमें इतना समय लगायें कि थोड़ी देर सोने तथा शौच स्नान-भोजनादिके अतिरिक्त दूसरी बातके सोचने तथा दूसरा काम करनेके लिये अवकाश ही नहीं मिले। स्त्रियोंसे एकान्तमें कभी न मिलें, न बातचीत करें, न किसी अकेली स्त्रीके घर भिक्षा आदिके लिये जायँ और न किसी स्त्रीको मन्त्र दें।

आप तो नये साधक हैं। सिद्ध महापुरुष भी वैसे ही आचरण करते हैं, जिनसे उनका अनुकरण करके इतर लोग सन्मार्गपर आरूढ़ रहें। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(३। २१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, इतर लोग भी उसीका अनुकरण करते हैं। वह जो कुछ भी प्रमाण कर देता है, लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं। अर्जुन! मेरे लिये त्रिलोकीमें कोई भी कर्तव्य नहीं है, न कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु ही मुझको अप्राप्त है; तथापि मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ। यदि मैं कदाचित् सावधानीके साथ आदर्श कर्माचरण न करूँ तो पार्थ! मानवसमुदाय सब प्रकारसे मेरे ही बताये मार्गपर चलने लगे अर्थात् आदर्श कर्मोंका परित्याग कर दे। इस प्रकार यदि मैं आदर्श कर्म न करूँ तो लोक उत्सन्न हो जायँ और मैं संकरताका कारण बनूँ तथा इस सारी प्रजाका नाश करनेवाला होऊँ।'

जब इस प्रकार स्वयं भगवान् और जनकादि सिद्ध पुरुष भी श्रेष्ठ आदर्श आचरण करना चाहते हैं तब आप तो साधक हैं। यह सत्य है कि नित्य समत्वमें स्थित परम श्रेष्ठ सिद्ध महापुरुषोंका यदि कहीं मान-सम्मान होता है तो उससे उनकी कोई हानि नहीं होती, तथापि वे भी उसे स्वीकार नहीं करते। असलमें मान-सम्मान होता है श्रेष्ठत्वका—सदाचार, सद्गुण, ऐश्वर्य, शक्ति, निःस्वार्थभाव, त्याग, वैराग्य, भक्ति और ज्ञानका। ये सारी चीजें भगवान्की हैं; यदि किसीमें ये हैं तो भगवान्की दी हुई हैं। फिर वह इनके लिये अभिमान क्यों करे, भगवान्को मिलनेवाले सम्मान-

गौरवका अधिकारी अपनेको क्यों समझे? जो लोग इस मान-सम्मानको अपनी प्राप्तव्य वस्तु समझकर स्वीकार करते हैं और फूल उठते हैं, वे तो अपना पतन ही करते हैं। सबसे अच्छी और लाभकी बात तो यह है कि इन्हें स्वीकार ही न किया जाय और यदि कहीं स्वीकार न करनेसे किसीको यथार्थमें दुःख होता हो तो उतना ही स्वीकार करे, जितना शास्त्रमर्यादा और सदाचारके अनुकूल हो और उसको भी भगवान्‌के ही समर्पण कर दे। यही समझे कि यह सब भगवान्‌का ही मान-सम्मान है। मैं जो निमित्त बनाया गया हूँ, इससे मालूम होता है कि इसमें कहीं-न-कहीं मेरी कोई वासना ही कारण है। और भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे इस मीठे विषसे सदा बचाते रहें।

(५१)

संयुक्त परिवारमें लाभ है

आपका पत्र मिला। आपके प्रेमभरे परिवारको कुछ लोग नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते हैं, यह दुःखकी बात है। आप दोनों भाइयोंका परस्पर बड़ा प्रेम है और आपलोग रामायण-पाठ तथा श्रीठाकुरजीकी पूजा किया करते हैं, सो बड़े ही आनन्दका विषय है। आपके छोटे भाईके पुत्र लोगोंके बहकावेमें आकर अनाचार कर रहे हैं, परिवारको हानि पहुँचाते हैं और अलग होना चाहते हैं—यह उनकी भूल है। उनको प्रेमसे समझानेकी कोशिश कीजिये। समझ जायँ तो अच्छी बात है नहीं तो उन्हें अलग कर दीजिये। जो साथ नहीं रहना चाहेंगे उन्हें जबरदस्ती आप कैसे रखेंगे। भगवान्से प्रार्थना कीजिये कि वे उनको सद्बुद्धि दें। शोभा, सुन्दरता और लाभ तो परिवारके संयुक्त बने रहनेमें ही है। पर यदि किसी प्रकार भी यह सम्भव न हो तो नित्यका दुःख मिटानेके लिये उन्हें अलग कर देना ही श्रेयस्कर है। उन भाईसे भी हमारा अनुरोध है कि वे शान्तिपूर्वक सारी स्थितिपर विचार करें। यदि उन्हें किसी बातसे असन्तोष हो तो उसे प्रकट करके शान्ति तथा प्रेमके साथ उसका निराकरण करा लें। अलग होनेमें तो हानि ही है।

(५२)

आत्महत्या महापाप है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके माता-पिता आपसे सन्तुष्ट नहीं रहते। घरमें लड़ाई-झगड़ा बना रहता है। इस दुःखसे घबराकर आपके मनमें आत्महत्या करनेकी बात आयी है, सो भाई साहब! आत्महत्याका विचार सर्वथा पापमय है। आत्महत्या करके मर जानेवाला मरते ही सुखी हो जायगा, ऐसी बात कदापि नहीं माननी चाहिये। आत्महत्या महापाप है। नास्तिक भले ही आत्महत्यामें सुख माने। कर्मफल तथा परलोकको माननेवाले पुरुष सजग अवस्थामें कभी आत्महत्याका विचार नहीं कर सकता। माता-पिता प्रसन्न नहीं रहते—इसमें यदि आपका दोष है तो उसे सुधारनेकी चेष्टा कीजिये। असलमें आपको अपना ही दोष मानना चाहिये। गहराईसे ढूँढ़ेंगे तो आपको अपना दोष मिल ही जायगा। नम्रताके साथ अपना दोष स्वीकार करके उनकी सेवा कीजिये। अपने-आप ही वे प्रसन्न हो जायँगे। यदि ऐसा सम्भव न हो तो मनमें कोई द्वेष-बुद्धि न रखते हुए उनसे अलग हो जाइये तथा भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे आपको उनकी सेवाके योग्य बनावें और उनकी आपपर दयादृष्टि हो। आत्महत्याका विचार सर्वथा त्याग दीजिये।

(५३)

आत्महत्या पाप क्यों ?

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद! सच्चे सन्तको सच्चा सन्त ही पहचान सकता है। सत्स्वरूप आत्मा अथवा परमात्माका साक्षात्कार ही सन्तका प्रधान लक्षण है; परन्तु यह लक्षण केवल स्वानुभवगम्य है। अतः सन्त अपनेको स्वयं ही पहचान सकता है। बाहरकी दुनिया उसके बाह्य व्यवहारोंको ही देखकर अपना मत स्थिर करती है; किन्तु बाह्य व्यवहारोंके सुधारमात्रसे ही सच्चे सन्तका परिचय नहीं मिलता। बहुधा दम्भी मनुष्य भी मान-प्रतिष्ठाके लिये अपने बाह्य व्यवहार सज्जनोचित बना लेते हैं; पर भीतर उनके स्वार्थपरायणता, दम्भ, पाखण्ड, वंचकता आदिका निवास होता है। अतः व्यवहारोंकी ओर दृष्टि रखकर ही सन्तके सम्बन्धमें कोई निर्णय कर लेना उचित नहीं है। सन्तका वास्तविक रूप अन्तर्जगत्में प्रकट होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अहंता, ममता, राग, द्वेष, दम्भ और दर्प आदि दुर्गुणोंसे शून्य स्वाभाविक शम, दम, शान्ति, प्रसाद आदि सद्गुणोंसे अलंकृत वासनारहित निर्मल अन्तःकरण ही सच्चे सन्तका परिचय देता है; किन्तु उसे स्वयं सन्तके सिवा और कौन देख सकता है; इसलिये सच्चे सन्त गुफाओंमें भी रह सकते हैं; तथा राजर्षि जनककी भाँति संसारमें भी '**मामनुस्मर युध्य च**' के आदर्शको अपनाकर निर्लिप्त जीवन बिता सकते हैं। फिर भी उन्हें उनके सिवा दूसरा कोई परख नहीं सकता। दूसरोंके पास उनकी परखका कोई साधन ही नहीं। राजर्षि जनक और शुक सन्तोंद्वारा ही पहचाने गये। सुदीर्घकालतक

सन्तोंका संग, सेवन और अनुसरण करनेवाले सच्चे भक्त भी सन्तोंको उनकी ही दयासे पहचान पाते हैं। वे स्वयं जिन-जिनके सामने अपनेको प्रकट कर दें, वे ही उनको जान सकते हैं। गुफामें रहनेवाले सन्त बड़े हैं या संसारके कर्मक्षेत्रमें? यह विचार भी वे ही लोग करते हैं जिन्हें सन्तोंकी महिमाका बिलकुल ज्ञान नहीं है। सन्त, यदि वास्तवमें सन्त हैं, तो वे किसी देश, वेश अथवा परिस्थितिमें हों, हमारे लिये वन्दनीय हैं; वे सभी महान् हैं; उनमें तारतम्य स्थापित करना अपने अज्ञानका परिचय देना है। समुद्रमें मिली हुई कौन-सी बूँद बड़ी और कौन-सी छोटी है? यह प्रश्न किसी समझदार व्यक्तिके मनमें उठ नहीं सकता। सन्त तो परमात्मासे अभिन्न हैं; उनमें तारतम्य कैसा?

साधक भी यदि सत्यके खोजी हैं तो वे गुफामें रहकर साधना करें या कर्मक्षेत्रमें; सर्वथा आदरके पात्र हैं। वास्तवमें सबका स्वभाव पृथक्-पृथक् होता है। सब एक ही पथसे चलनेके अधिकारी नहीं हैं। किसीमें प्रवृत्तिमार्गकी ओर जानेकी रुचि होती है, किसीमें निवृत्तिमार्गकी ओर। कोई कर्मक्षेत्रमें साधना कर सकते हैं, कोई गुफामें। यदि उनका लक्ष्य सत्स्वरूप परमात्माकी ओर है, तब वे किसी भी मार्गसे चलनेवाले साधक क्यों न हों, उन्हें साधु ही मानना चाहिये।

आपने पत्रमें अपनेको अद्वैतवादी बताया है। आपके द्वारा दो-चार पंक्तियोंमें जिस मतका स्पष्टीकरण किया गया है; वह अद्वैतमतके ही अनुकूल है। जगत् मिथ्या है, किन्तु जगत्-रूपमें उसका मिथ्यात्व बताया गया है; ब्रह्मरूपसे तो सब कुछ सत्य है; **'वासुदेवः सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** है। अद्वैतवादी भी ऐसा ही मानते हैं। फिर भी आपने यह

लिखा है कि अथवा यों कहिये 'मैं द्वैताद्वैतवादी हूँ।' परन्तु द्वैताद्वैतवादसे आपके मतका अधिक मेल नहीं है।

कामके पत्रमें 'आत्महत्या' का निषेध किया गया है, उसे पाप बताया गया है। आपका प्रश्न है—'आत्महत्या पाप क्यों?' इसके प्रतिपादनमें आपने जो उद्गार प्रकट किया है, उसमें आपका सारा अद्वैतज्ञान हवा हो गया है। आप लिखते हैं— 'मैं पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं रखता.......मेरे मतमें मृत्यु मोक्ष देनेवाली है, चाहे पापीकी हो या पुण्यात्माकी। ....जीवन एक अन्धकारमय प्रदेशकी एक यात्राका नाम है, जिसका पथ भयानक अन्धकारमेंसे गुजरता है।'

इन पंक्तियोंमें जो धारणा प्रकट की गयी है, इससे तो अज्ञानका ही परिचय मिलता है। अद्वैतज्ञानमें, जहाँ जीवन और मृत्यु—दोनों ब्रह्मके ही रूप हैं, ऐसी असंगत धारणाओंके लिये स्थान नहीं है। ऐसी निराशा नास्तिकोंके जीवनमें ही अपना-अपना अन्धकार फैलाती है। जीवन दुःखरूप है, भारभूत है; यह सब बाह्यदृष्टिकी कल्पना है। अन्तर्दृष्टिमें जहाँ जीवनके आधारस्तम्भ मंगलमय परमात्मा—सुखरूप भगवान् हैं; वहाँ उसे त्यागनेकी भावना ही क्यों उठे? जो जीवन भगवान्‌की भावनासे शून्य है, वही अनित्य और असुख है; अतः आवश्यकता इस बातकी है कि उसे पाकर भगवान्‌का भजन और चिन्तन किया जाय। ऐसा करते ही यह भगवन्मय हो जायगा। फिर यहाँ दुःख और अन्धकारका प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये भगवान्‌का यह आदेश है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

जहाँ आपको पग-पगपर कीचड़ दिखायी देती है, वहीं अमृतकी अमन्द मन्दाकिनी भी बहती है। जहाँ आप मरुकी

उत्तप्त बालुकाके सिवा और कुछ नहीं देखते, उसी जगह अनन्त अगाध शीतल सलिलका अपार पारावार भी लहरा रहा है। जहाँ चप्पे-चप्पेपर आपकी दृष्टिमें केवल कण्टक-वृक्ष और झाड़ियाँ ही हैं, वहीं दूसरे लोग मनोहर मधुवनका भी दर्शन करते हैं; क्या आपकी ही दृष्टि सत्य है? दूसरोंकी नहीं? आप क्या कह सकते हैं, जो लोग यहाँ दुःख-ही-दुःख देखते हैं, वे अपने जीवनका अन्त कर दें तो क्या हर्ज है? परन्तु यह भी एक भ्रम ही है। सूर्य डूबनेके बाद जब सारे जगत्पर अन्धकार छा जाता है, उस समय क्या कोई भी व्यक्ति इसलिये अपने जीवनका अन्त कर डाले कि संसारमें अन्धकार-ही-अन्धकार है। नहीं, उसे पुनः प्रकाश प्राप्त होगा, ऐसा समझकर उस अन्धकारके कष्टको सहन करना चाहिये। यही बात रोगके सम्बन्धमें भी है। रोग और दुःख सभी आगमापायी हैं। आते हैं और चले जाते हैं। अतः आनेपर उनके निवारणका उपाय करना ही कर्तव्य है; रोगीके जीवनका अन्त कर डालना नहीं। कीचड़ पड़ जानेपर कपड़ेको धोया जाता है, फेंका नहीं जाता; उसी प्रकार पापपंकमें फँसे हुए तन, मन, जीवनको पुण्यके पावन सलिलसे धोकर स्वच्छ बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये, त्यागनेकी नहीं। कपड़ा तो हम स्वयं बनाते और पहनते हैं; अतः स्वेच्छासे उसे त्याग भी सकते हैं, परन्तु यह तन और जीवन हमें किसी दूसरी शक्तिसे प्राप्त हुए हैं। जिसने दिया है वही इसे ले सकता है। हमारा काम है इसका सदुपयोग करना। इसको नष्ट करना हमारी अनधिकार चेष्टा है; इसके लिये हमें दण्ड मिलना चाहिये।

मकान पुराना हो जाय अथवा गिरने लगे तो उसे छोड़नेमें

जैसे मकान-मालिकको कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार यह शरीर गिर जाय अथवा वृद्ध हो जाय तो मोहवश इसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही दृष्टान्त लिया जा सकता है। मकान गिर ही जायगा या उसमें खतरा है—इस दृष्टिसे अपनी ही इच्छासे उसको मालिक छोड़ देता है, इसी प्रकार शरीर एक-न-एक दिन नष्ट होगा ही, उसमें रोगका आक्रमण हो चुका है, इसलिये स्वेच्छासे उसको गोली मार दी जाय अथवा अन्य उपायोंसे नष्ट कर दिया जाय, ऐसी सलाह देना पागलपन है। मकान तो आप स्वयं बनाते या बनवाते हैं। एक आदमी कई मकान बनवाकर सबमें बारी-बारीसे रहता है। एक छोड़कर दूसरेमें जाता है, फिर उसको छोड़कर पहलेमें ही आ जाता है। यह स्वतन्त्रता शरीरके सम्बन्धमें नहीं है। यह शरीर हमें प्राप्त हुआ है, हमने बनाया नहीं है। अतः हम स्वेच्छासे इसका त्याग नहीं कर सकते। यह ठीक है कि अपने ही कर्मोंके परिणाम-स्वरूप यह शरीर मिला है तथापि हम इसके स्रष्टा नहीं हैं। हमें विवश होकर इस शरीरको ग्रहण करना पड़ता है और विवश होकर ही इसे छोड़नेको उद्यत होना पड़ता है। मकानका एक भाग तोड़कर हम उसे अपनी इच्छाके अनुसार बना सकते हैं; परन्तु शरीरके एक अवयवमें भी हमें स्वेच्छानुसार परिवर्तन करनेका अधिकार नहीं है; अतः शरीर हमें एक धरोहरके रूपमें मिला है। इसकी रक्षा और इसका सदुपयोग—इतना ही हमारा कर्तव्य है। इसको नष्ट करना महान् अपराध है। आधुनिक कानूनकी दृष्टिसे भी आत्मघातकी चेष्टा महान् अपराध है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर और स्वामी श्रीरामतीर्थके वचनोंसे आत्मघातका समर्थन नहीं होता। उनके

कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि परमात्माके अस्तित्वपर सन्देह करना आत्मघातसे भी अधिक भयंकर है। मृत्यु अनिवार्य है, इसलिये जब चाहे तब क्षणिक कष्टको सहन न करके जीवनको नष्ट कर डालना त्याग नहीं, अविवेक है। बच्चा पैदा होते समय प्रत्येक गर्भवतीको बड़ा कष्ट होता है, कई मर भी जाती हैं; अतः सभी गर्भिणी स्त्रियोंको गोली मार देनी चाहिये; ऐसी बातें भी कही जा सकती हैं; किन्तु क्या आप इसका अनुमोदन करेंगे? जीवनमें दुःख और कष्टके अनेक अवसर आते हैं; इसलिये उनसे बचनेकी इच्छासे क्या नवजात शिशुको मार डालना उचित होगा? यदि ऐसी ही व्यवस्था दे दी जाय तो सारे जगत्का प्रलय हो जाय। युद्धमें बहुत कष्ट होता है, प्राणतक देने पड़ते हैं; अतः उनसे बचनेके लिये कायरोंकी तरह मुँह छिपाकर घरमें बैठा रहा जाय, यह सलाह कोई कायर ही दे सकता है। कोई भी ऐसी युक्ति नहीं है, जो आत्मघातकी नैतिकता सिद्ध कर सके। जैनधर्ममें भी आत्मघातकी आज्ञा नहीं दी गयी है। उनके यहाँ एक व्रत है, जिसमें धीरे-धीरे तपस्यासे अपनेको मुक्तिके पथपर अग्रसर कराया जाता है। उसे आत्मघातका प्रयत्न कहना उसकी निन्दा करना है।

उपनिषदोंमें आत्मघातीको नरककी प्राप्ति बतायी गयी है। यह पापका ही दण्ड है। पाप और पुण्यका निर्णय शास्त्रसे ही होता है। शास्त्रोंने आत्मघातको पाप बताया है। अतः वह पाप ही है। कोई भी युक्ति उस पापसे छुटकारा नहीं दिला सकती। हमारा जीवन अनादिकालसे आ रहा है, यदि मुक्त नहीं हुआ तो अनन्तकालतक चलता रहेगा। जन्म और मृत्यु तो उस जीवन-नाटकके एक दृश्यके आरम्भ और

पटाक्षेपमात्र हैं। आज जगत्में कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों है? यह पूर्वजन्मके कर्मोंका ही परिणाम है। इससे पुनर्जन्म स्वतःसिद्ध हो जाता है। नित्य सुखकी प्राप्तिका उपाय आत्मघात नहीं, भगवान्का भजन है। शेष भगवान्की ही कृपा।

(५४)

आत्महत्याका विचार छोड़कर भगवान्‌का भजन कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। 'आपके भाई आपके पूजा-पाठमें विघ्न डालते हैं और आप जिस जातिमें हैं, उसमें आपकी कोई इज्जत नहीं।' इसलिये आप आत्महत्या करना चाहते हैं सो यह आपकी भूल है। आप मन-ही-मन गुप्तरूपसे भगवान्‌की मानसिक भक्ति-पूजा और जिह्वासे सदा भगवान्‌का नाम-जप कीजिये, आपको कौन रोक सकता है? रही जातिकी बात, सो भगवान्‌के यहाँ जातिका कोई महत्त्व नहीं है—

'जाति पाँति पूछै ना कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥'

—प्रसिद्ध है। नीची या वर्णसंकर जातियोंमें बहुत बड़े-बड़े महात्मा हो चुके हैं। भगवान्‌की भक्तिमें सबका अधिकार है और सच्ची भक्तिके प्रतापसे किसीको भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। अतः आप आत्महत्याका विचार सर्वथा छोड़कर भगवान्‌की भक्ति कीजिये।

(५५)

गोहत्याके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था

सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि गोहत्या-सम्बन्धी प्रायश्चित्तकी व्यवस्थाकी विधि यह है कि गाय या बैलके गलेमें मृत्युके समय जो रस्सी रही हो, उसे लेकर वे सब लोग, जिनका उसकी मृत्युसे कुछ भी लगाव समझा जाता हो, किसी अच्छे धर्मशास्त्रके जाननेवाले निष्पक्ष विद्वान् ब्राह्मणके पास जायँ और उनकी आज्ञाके अनुसार विधिपूर्वक विनय एवं श्रद्धाके साथ प्रश्न करें। प्रश्न करते समय भगवान् और गोमाताको प्रणाम करके सारी बातें सच-सच बतला दें। उन बातोंको सुननेके बाद धर्मशास्त्रानुसार जो निर्णय वे दें, उसके अनुसार प्रायश्चित्त किया जाय। आपको भी इस प्रश्नका निर्णय इसी प्रकार करवाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे प्रश्नोंके निर्णयका अधिकार नहीं रखता। धर्मशास्त्रज्ञ एवं धर्मनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मणोंको ही इसपर निर्णय देनेका अधिकार है। शेष प्रभुकी कृपा।

(५६)

दहेज-प्रथा

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी समझसे अपनी कन्याको दहेज देना बुरी चीज नहीं है, वरं विवाहका एक आवश्यक अंग है। क्योंकि कन्याको इसी रूपमें कुछ मिलता है। परन्तु हिन्दू-समाजमें इस समय जिस प्रकारसे कन्याके पिताको बाध्य होकर दहेज देना पड़ता है, वह तो पाप है। पहलेसे सौदा तै किया जाता है, मोल-तोल होता है और कन्याके पितासे अधिक-से-अधिक लूटनेकी चेष्टा की जाती है। परिणामस्वरूप लड़कियाँ युवती हो जाती हैं, उनके विवाह नहीं हो पाते एवं यदि विवाह हो जाता है तो वरके माता-पिताके द्वारा कन्याको अपने माता-पिताके नाम गन्दी गालियाँ सुननी पड़ती हैं। कन्याके अभिभावकोंकी बड़ी बुरी दशा होती है और उन्हें जीवनभर ऋणी रहना पड़ता है। यह प्रत्यक्ष पाप है। इसके दूर करनेका उपाय तो यही है कि वरपक्षवाले दहेज लेना बन्द कर दें। कम-से-कम, सयाने लड़कोंको इस त्यागके लिये तैयार होना चाहिये और प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हम अपना विवाह तभी करावेंगे, जब दहेज नहीं लिया जायगा। विशेष भगवत्कृपा।

(५७)

कानूनके द्वारा पापको प्रोत्साहन

आपका पत्र मिला। आपका लिखना यथार्थ है। इस समय उच्छृंखलता और स्वेच्छाचारिता बढ़ती जा रही है और भले-भले लोगोंके द्वारा भी 'प्रगति', 'सुधार' और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नामपर इस कुप्रवृत्तिको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। मेरी ऐसी धारणा है कि स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंका मन अधिक दुराचारी है, परन्तु मालूम होता है कि अब स्त्रियाँ भी इस पापके क्षेत्रमें किसीसे पीछे नहीं रहना चाहतीं। गत दो-तीन साल पहलेकी बात है—दिल्लीकी विधानसभामें एक महिलाने कहा था कि 'हमपर सतीत्व क्यों थोपा जा रहा है।' सन् १९४७ में बम्बईमें एक सुधारक महिलाके द्वारा प्रस्तावित तलाकसम्बन्धी कानून पास हुआ था; उसके द्वारा स्त्रियोंको व्यभिचारकी कितनी सुविधा मिलती है, इसका एक ताजा उदाहरण बम्बई हाईकोर्टका एक फैसला आपके सामने है। श्रीरंग सखाराम गायकवाड़ नामक एक व्यक्तिने उक्त कानूनके अनुसार अपनी पत्नी सुलोचनाको व्यभिचारिणी होनेके कारण तलाक देना चाहा और अदालतमें यह सिद्ध कर दिया कि उस स्त्रीका चार पर-पुरुषोंके साथ अनैतिक सम्बन्ध था। पर बम्बई हाईकोर्टके न्यायाधीश श्रीकोयाजीने तलाककी आज्ञा नहीं दी और निर्णय किया कि 'चार पर-पुरुषोंके साथ व्यभिचार करनेवाली स्त्री दुराचारिणी तो है; परन्तु इसको वेश्या-व्यवसाय नहीं माना जा सकता और न इस आधारपर तलाक ही दिया जा सकता है। वेश्या-व्यवसायका अर्थ है पैसा लेकर सर्व साधारणके साथ सम्बन्ध स्थापित करना।'

—('सन्मार्ग', काशी)

इस निर्णयसे आजके सुधारक प्रवृत्तिके नर-नारियों और कानून-प्रवर्तकोंकी मनोवृत्तिका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। कहाँ तो भारतीय नारीका अनुपम सतीत्व और उसके लिये सर्वस्व-त्यागकी सहज प्रतिज्ञा एवं कहाँ कानूनके द्वारा व्याभिचारकी छूट! इससे सिद्ध है कि हमारा समाज इस समय व्यवस्थापूर्वक पतनकी ओर जा रहा है। इससे बचनेके लिये बाहरी उपाय तो करने चाहिये; परन्तु सर्वोत्तम उपाय एक यह है कि धर्मकी रक्षा करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीभगवान्‌से प्रार्थना की जाय। वे कृपा करके अधर्मको धर्म बतानेवाली हमारी तामसी बुद्धिको बदल देंगे तो सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा!

आपने जो समस्या लिखी, उसका किसी प्रकार साम-दामके द्वारा समझा-बुझाकर घरमें ही समाधान कर लीजिये। बात बढ़ानेमें कोई लाभ नहीं प्रतीत होता। अभी तो सर्वथा मामूली-सी बात है। बढ़ानेपर यदि बात बड़ी हो जायगी और परिस्थिति हाथसे निकल जायगी तो फिर बहुत बड़ी कठिनता होगी। इसका भी सर्वांगसुन्दर उपाय मेरी समझसे तो भगवत्प्रार्थना ही है। आप कातरभावसे भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये—श्रद्धा और विश्वासपूर्वक। सर्वसमर्थ भगवान् चाहेंगे तो तमाम वातावरण क्षणोंमें बदल जायगा और आपका संकट बड़ी सरलतासे टल जायगा। इसमें जरा भी सन्देह मत कीजिये।

(५८)

वर्तमान संकट और ईश्वर

सादर सप्रेम भगवत्स्मरण! आपका पत्र मिला। अकाल आदिसे पीड़ित गरीब दुःखी मानवोंकी यन्त्रणाका विचार करके आपके हृदयमें जो वेदना हुई है, उसे आपने बहुत ही प्रभावशाली वाणीमें अंकित किया है। वास्तवमें लाखों नर-नारियोंपर जो एक साथ ही विपत्तिके पहाड़ टूट पड़े हैं, इससे प्रत्येक सात्त्विक विचारवाले सहृदय मनुष्यके हृदयमें अत्यन्त दुःख हुआ है। न्यायी और दयालु, सर्वशक्तिमान् ईश्वरके राज्यमें ऐसा अनर्थ क्योंकर सम्भव हुआ? यह प्रश्न आज बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको भी धैर्यसे विचलित किये देता है। मेरी आपके साथ पूर्ण सहानुभूति है और मैं आपके लिखे अनुसार इस समस्यापर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहता हूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि इधर गत चार-पाँच वर्षोंसे चारों ओर भीषण नरसंहार हो रहा है। बंगालके अकालकी भीषण यातना भी किसीसे छिपी नहीं है। एक ओर क्षुधाकी ज्वालामें जलते हुए लाखों-करोड़ों गरीबोंका हाहाकार और दूसरी ओर कुछ मुट्ठीभर मुनाफाखोरोंको खाते-खाते अजीर्ण होना भी सबके सामने है। यह माननेमें भी कोई संकोच नहीं कि आधुनिक साम्राज्यवाद और पूँजीवाद भी इस भयानक परिस्थितिको लानेमें विशेष सहायक हुआ है, पर वर्तमान राजनीति और पदलोलुपता भी कम हेतु नहीं हैं।

अब प्रश्न यह है कि इन करोड़ों नर-नारियोंको यह दुर्दशा क्यों भोगनी पड़ी? इस तरहके संकटोंका वास्तविक कारण क्या है? इसकी निवृत्तिका उपाय क्या है? यदि ईश्वरके देखते-देखते

ऐसी बातें हुईं तो वह निर्दयी और अन्यायी सिद्ध होता है अथवा उसका अस्तित्व ही धोखा है। आजतक विद्वान् लोग जो पूँजीपतियोंके हाथके खिलौने रहे हैं, ईश्वरकी कल्पना करके जनताको धोखा देते आये हैं, उनके साथ उन्होंने गद्दारी की है। क्या ऐसा मानना ठीक है?

आइये, हम और आप मिलकर इसपर ठण्डे दिलसे विचार करें। आपने अपने पत्रमें जिस भीषण नर-संहारकी चर्चा की है, वह अकाल; युद्ध या साम्प्रदायिक संघर्ष आदि कारणोंसे हुआ है। अतः इसका उत्तरदायित्व जिन लोगोंपर है उनके प्रति आप अपना रोष प्रकट करते हैं; परन्तु जब अतिवृष्टि या अनावृष्टिके कारण अकाल पड़ते हैं और उनमें लाखों-करोड़ों जीवोंकी मृत्यु होती है, उसका उत्तरदायित्व किसपर होगा? बाढ़में हजारों गाँव बह जाते हैं। प्लेग और हैजेके भीषण प्रकोपसे लाखों मनुष्य कालके गालमें एक साथ ही चले जाते हैं। यों भी नाना प्रकारके रोग, शोक, दुःख, जरा, मृत्यु, स्वजन-वियोग आदि कारणोंसे प्रायः सम्पूर्ण प्राणी कष्ट भोगते रहते हैं। यह सब क्यों होता है? जब ऐसे कारणोंसे एक ही समय असंख्य प्राणियोंको मौतके घाट उतरना पड़ता है, तब इस परिस्थितिको लानेवाला कौन समझा जायगा? परिस्थितिको लानेवाले चाहे जो भी रहे हों उन असंख्य जीवोंमें जो सदा ही कष्ट होता रहता है और हुआ है, उसमें उनका भी कुछ दोष है या नहीं? क्या वे बिना अपराधके ही सताये जाते हैं?

इन सब प्रश्नोंका उत्तर पानेके लिये हमें हिन्दू-शास्त्रोंकी शरण लेनी पड़ेगी, अन्यथा इसका हल निकालना कठिन है। शास्त्र कहते हैं—दुःख चाहे जैसा भी हो और चाहे जिस कारणसे भी आया हो, वह अपने पूर्वकृत पापकर्म (प्रारब्ध)-का फल है।

इसी प्रकार सुख भी अपने पूर्वकृत पुण्यकर्म (प्रारब्ध)-का फल है। इस विषयको समझनेके लिये कर्मके रहस्यपर भी दृष्टिपात करना होगा। कर्म तीन प्रकारके होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। जो कर्म वर्तमान कालमें किया जा रहा है वह क्रियमाण है। काम हो जानेपर वह हृदयमें संस्काररूपसे संचित हो जाता है। और उन संचित कर्मोंमेंसे कुछ कर्म जो फल भुगतानेके लिये उन्मुख होते हैं, उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। जैसे एक किसान खेती करता है, यह क्रियमाण है। खेती पकी, कटी और अन्न घरमें जमा हुआ, यह संचित है। उस संचित अन्नमेंसे कुछ अन्न अलग निकालके रख लिया जाता है, जिसे दैनिक भोजनके काममें खर्च किया जाता है, यह अलग निकाला हुआ अन्न प्रारब्धके स्थानमें है।

यह प्रारब्ध भी तीन प्रकारसे भोगा जाता है—स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छासे। स्वेच्छा-प्रारब्ध वह है, जब हम स्वयं प्रयत्न करके सुख या दुःख उठाते हैं। अनिच्छा-प्रारब्ध वह है, जब हमें इच्छा न होनेपर भी अकस्मात् किसी कारणसे सुख या दुःख प्राप्त होते हैं और परेच्छा वह है, जहाँ चोर, डाकू, अत्याचारी आदिके द्वारा आक्रमण होकर हमें कष्ट भोगना पड़ता है। इस प्रकार दुःख भोगनेके प्रकार और निमित्तमें अन्तर हो सकता है; किन्तु दुःखका भोग जो मिलता है वह तो अपने ही बुरे कर्मोंका फल है। सम्भव है वह बुरा कर्म इसी जन्ममें हुआ हो अथवा अन्य जन्मोंमें। हैजा, प्लेग, आँधी, पानी, आग, बिजली, रोग, व्याधि आदि कारणोंसे जो मृत्यु या कष्ट होता है वह अनिच्छा-प्रारब्धकी देन है। आपके विचारानुसार यदि हम मान भी लें कि वह भीषण नरसंहार या अकाल पूँजीपतियों या साम्राज्यवादियोंकी देन है तो इसे हम शास्त्रीय शैलीसे परेच्छा-प्रारब्ध कह सकते हैं।

सारांश यह कि दुःख-सुख अपने ही प्रारब्धकी देन हैं और वे इस जन्मके अथवा पूर्वजन्मोंके शुभाशुभ कर्मोंके फलरूपमें ही प्राप्त होते हैं। इसमें यह कभी नहीं मानना चाहिये कि दुःखभोग तो अपने ही कर्मोंका फल है, इसलिये जो दूसरोंको दुःख देते या सताते रहते हैं, वे निर्दोष हैं। प्रारब्धवश जो सुख या दुःख मिलता है, उसका मिलना पहलेसे ही निश्चित रहता है, परन्तु वह अमुक कारण या व्यक्तिसे मिलेगा यह बात पहलेसे निश्चित नहीं होती। अतः यदि कोई मनुष्य किसीके दुःख देनेमें निमित्त बनता है तो वह अपराधी है और उसका दण्ड उसे भोगना ही पड़ता है। अतएव साम्राज्यवाद, पूँजीवाद या दूषित राजनीतिके दोषसे जो गरीबोंको कष्ट भोगना पड़ता है उसका फल उन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और राजनीतिक पुरुषोंको अपने-अपने कर्मानुसार न्यूनाधिक रूपमें अवश्य भोगना पड़ेगा। अतः दुःख पहुँचानेवाले लोगोंको प्रत्येक शास्त्रीय उपायोंसे रोकना या उनका प्रतीकार करना हरेक धर्मशील मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। यह कर्तव्यविमुखता भी एक प्रकारसे पाप ही है, क्योंकि इससे समाजमें पापको प्रोत्साहन मिलता है और पापकर्म करनेवाले लोगोंको परिणाममें पापका फल दुःख भोगना पड़ता है।

इस मामलेमें ईश्वर क्या करते हैं, इसपर भी विचार करना आवश्यक है। कर्म स्वयं जड़ है, वह स्वयं ही फल देनेकी व्यवस्था नहीं कर सकता। अतः किसी सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ ईश्वरके रहे बिना कर्म-फलोंकी ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती। किसके कौन-कौनसे पूर्वकर्म हैं, तथा किनको कहाँ और कब किस रूपमें फल मिलेगा, इन सब बातोंका विचार सर्वज्ञ ईश्वर ही कर सकता है। यही उसका न्याय है कि वह सबको यथायोग्य फल देता है। किसी

हिंसाके अपराधीको प्राणदण्डकी सजा देते समय न्यायाधीशको कठोर होना ही पड़ता है। परन्तु वह प्राणदण्ड अपराधीके अपने ही कर्मका फल है, न्यायाधीशकी कठोरताका नहीं। हाँ, न्यायाधीश कभी कठोर भी हो सकता है; परन्तु ईश्वर नहीं। उसकी दयाका तो पग-पगपर अनुभव होता है। जैसे डॉक्टर रोग दूर करनेके लिये ही सुई चुभोता अथवा घावका ऑपरेशन करता है, उसी प्रकार जीवको शुद्ध करनेके लिये ही भगवान् जीवात्माको उसके पापोंका दण्ड देते हैं। यद्यपि चोर और डाकूको उसके कुकर्मका ही दण्ड मिलता है, परन्तु दण्डकी व्यवस्था करनेवाले चेतन न्यायाधीश अलग होते हैं। उसी प्रकार कर्मोंकी व्यवस्था करनेवाले न्यायशील, दयालु, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् प्रभुकी सत्ता माननी ही पड़ती है।

भगवान् किसी पापी या अन्यायीका हाथ नहीं रोकते। यह उन्हींका बनाया हुआ नियम है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जैसे गवर्नमेण्ट जब किसीको बन्दूकका लाइसेंस देती है, तो उसे बन्दूक रखने या चलानेकी कानूनी बातें समझाकर स्वतन्त्र कर देती है। फिर वह अपने इच्छानुसार उस शस्त्रका उपयोग करता है। वह चाहे तो कानूनका पालन करते हुए उसका उपयोग कर सकता है अथवा चाहे तो कानून तोड़कर भी उपयोग कर सकता है। जिस समय कानूनके विरुद्ध वह उस शस्त्रको चलाता है उस समय भी वह उसका हाथ पकड़ने नहीं आती, फिर भी उसके कानून-भंग करनेका दण्ड उसे यथासमय अवश्य देती है तथा शस्त्र भी जब्त कर लेती है। इसी प्रकार भगवान् जब जीवको मानव-शरीररूपी शस्त्र देकर संसारमें भेजते हैं तो शास्त्ररूपी कानून साथ रख देते हैं और कहते हैं शास्त्रके अनुसार चलनेसे तुम्हें लाभ होगा, पुरस्कार प्राप्त होगा। जो शास्त्रके विरुद्ध चलता है उसका वे हाथ नहीं पकड़ते, केवल उसके अन्यायको स्मरण रखते हैं और उसका यथोचित दण्ड समयपर

उसे देते हैं। यदि पूर्वोक्त साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और राजनीतिकोंका अन्याय है तो उसका दण्ड भगवान् उन्हें देंगे ही। आपको भगवान्के न्यायपर विश्वास करना चाहिये।

यही ईश्वरका ईश्वरत्व है। इसके सिवा जो सब सहारा छोड़कर भगवान्का भरोसा करके उन्हें पुकारता है, उसे दयामय प्रभु स्वयं भी दौड़कर कष्टसे उबारते हैं। उन्होंने ही द्रौपदी तथा गजराजको संकटसे उबारा था। प्रह्लादके प्राणोंकी रक्षा की थी और मीराके जहरको अमृत बना दिया था।

आपकी यह धारणा ठीक नहीं कि 'ईश्वर कल्पनामात्र है। विद्वान् लोग पूँजीपतियोंके खिलौने रहे हैं और साधारण लोगोंको धोखा देते रहे हैं।' यह पूँजीवाद आधुनिक रोग ही है। प्राचीन राजतन्त्रमें यह दोष नहीं था। इसके अलावा ईश्वरकी खोज करनेवाले वे ऋषि-महर्षि हैं जो केवल जल अथवा वायु पीकर वर्षों तपस्या करते थे। बहुत किया तो दो-चार फल और पत्ते चबा लिये। वस्त्रके नामपर वल्कल ही पहनते थे। जंगलोंमें रहते थे। पूँजीपतियों अथवा सम्राटोंकी ओर वे आँख उठाकर देखते भी नहीं थे। सम्राटोंके मुकुट उनके चरणोंपर बराबर गिरते थे, पर वे कभी उनके दास नहीं हुए। ईश्वरवाद उन्हीं त्यागी महात्माओंकी अनुभवसिद्ध देन है; उनके स्वानुभवका प्रकाश है। यह धोखा नहीं, परम सत्य है। इसे धोखा मानकर आप अपनेको धोखा न दें। यही आपसे मेरी विनीत प्रार्थना है।

पत्र कुछ बड़ा हो गया, किन्तु प्रसंग ही ऐसा था। आशा है आपको मेरा विचार जाननेमें इससे सुविधा होगी। यदि इससे आपको कुछ सन्तोष हुआ तो प्रसन्नताकी बात है। अन्यथा इसे आप मानें ही, ऐसा मेरा आग्रह नहीं है।

(५९)

अपराधीकी वैध सहायता करना धर्म है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। आपने लिखा कि 'एक कैदी (जिसको उसके कुकर्मोंके फलस्वरूप दण्ड मिला है)-के प्रति सहानुभूति प्रकट करना या उसकी किसी प्रकारकी सहायता करना जैसे पापमें सहायक होना और गवर्नमेण्टका अपराध करना है, उसी प्रकार ईश्वरीय न्यायालयमें दण्डित दीन-अपाहिजोंकी सहायता करना ईश्वरीय व्यवस्थाका उल्लंघन है, जो कि ईश्वरका एक अपराध ही है। यदि ऐसा ही है तो धर्मशास्त्रोंमें इसके विपरीत उपदेश क्यों है?'

इसका उत्तर यह है कि किसी अपराधके लिये दण्डित मनुष्यके प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करना या उसकी वैध रीतिसे सहायता करना कानूनकी दृष्टिमें अपराध नहीं है। अपराध तो उसके अपराधमें सहायता करनेमें है। किसीके साथ भी उसके दुःखमें सहानुभूति करना या सहायता पहुँचाना कहीं भी अपराध नहीं हो सकता। न्यायालयसे जिसे दण्ड दिया जाता है, उसमें भी उसके प्रति द्वेष या वैर नहीं है; वह पुनः वैसा अपराध न करे अर्थात् वह भावी दुःखसे बच जाय, इसी उद्देश्यसे दण्ड-विधानकी रचना हुई है। कारावासमें पड़े हुए कैदियोंके लिये भी नाना प्रकारसे सहायताके आयोजन होते हैं और उनमें बाहरके लोगोंसे भी सहायता माँगी तथा ली जाती है। असलमें घृणा पापसे होनी चाहिये, पापीसे नहीं। इसलिये अपराध भी पापमें सहायता करनेसे होता है, न कि पापीकी सहायता करनेसे। कैदीको क्या खाने-पहननेको नहीं दिया जाता? या क्या बीमारीमें उसका इलाज नहीं

करवाया जाता है? बल्कि कैदमें भी उसके प्रति किसीके द्वारा यदि दुर्व्यवहार होता है तो न्यायतः दुर्व्यवहार करनेवाला अपराधी माना जाता है। न्याय न हो और यथेच्छाचार हो, वहाँकी बात दूसरी है।

दुःखमें सहानुभूति और सहायता सदा ही धर्म है। यही लौकिक न्याय है और यही ईश्वरीय न्याय है। हाँ, न्यायपूर्ण विधानको माननेकी आवश्यकता सभी जगह है। अतः कैदीकी सहायता भी विधानके अनुकूल ही करनी चाहिये और दीन-अपाहिजकी सहायता भी शास्त्र-विधानके अनुसार ही।

कोई दीन-अपाहिज यदि अभक्ष्य-भक्षण करना चाहे, किसीके साथ वैर-विरोध करनेको कहे, किसी निर्दोषको सतानेके लिये कहे तो इन कार्योंमें उसकी सहायता नहीं करनी चाहिये। धर्मशास्त्रोंमें जो दीन-दुःखियोंकी सहायता करनेका आदेश है वह तो बहुत ही सुन्दर है। उससे ईश्वरीय न्यायमें बाधा नहीं पड़ती वरं उसमें सहायता मिलती है। भयानक दुःख और कष्टमें जिसकी सहायता होती है वही सहायताके मूल्यको भी जान सकता है, जैसे अन्नके महत्त्वको अत्यन्त भूखा मनुष्य ही जानता है। जिसको खाते-खाते अजीर्ण हो गया है, उसे अन्नके महत्त्वका क्या पता। और जो जिस वस्तुके महत्त्वको जानता है, वह उस वस्तुको प्राप्त भी करना चाहता है। दीन-दुःखी सहायता पाकर यह चाहेंगे कि हम भी कभी किसीकी सहायता करें। इससे उनके हृदय शुद्ध होंगे और पाप-बुद्धिका नाश होगा। एवं वे यदि पाप नहीं करेंगे तो भविष्यमें पापके परिणामरूप दुःखोंसे बच जायँगे। साथ ही, ईश्वर भी सहायता करनेवालोंसे प्रसन्न होंगे। अपराधी हो या निरपराधी, माँके लिये सभी बच्चे

समान प्रिय होते हैं; बल्कि दुःखमें पड़े हुएके प्रति माताकी विशेष सहानुभूति होती है। ऐसी अवस्थामें उस दुःखी बच्चेकी जो सहायता करता है, वह उसकी माताके विशेष स्नेह तथा आशीर्वादका पात्र होता है। इसी प्रकार भगवान् भी, जो उनकी दुःखी सन्तानोंपर दया करके उनके साथ सहानुभूति तथा उनकी सहायता करते हैं, उनपर बड़े प्रसन्न होते हैं। इसलिये दीन-दुःखियोंकी सहायता-सेवामें मनुष्यको बड़े उल्लासके साथ सदा प्रस्तुत रहना चाहिये। और ऐसा करते यदि कोई विपत्ति आवे तो उसे भगवान्‌का कृपा-प्रसाद समझकर सानन्द सिर चढ़ाना चाहिये।

(६०)

उपयोगितावाद

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपने गाय-बैलोंकी रक्षाका आधार उनकी उपयोगिताको ही माना है। 'गाय दूध देती है, उसके बछड़े बैल बनकर खेती और बोझ ढोनेके काममें आते हैं; अतएव उनकी रक्षा आवश्यक है। इस उपयोगिताको ध्यानमें रखकर ही उनकी रक्षाको धर्म और हिंसाको पाप माना जाता है। बकरीके बच्चे विशेषतः उसके नर-बच्चे मनुष्यके लिये वैसे उपयोगी नहीं हैं। अतः उनकी रक्षा क्यों की जाय?' यह आपका प्रश्न है।

किसी भी जीवका क्या उपयोग है, यह उसके निर्माता ही जान सकते हैं। जिन परमेश्वरने विविध जीवोंकी तथा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है, वे ही सबका उपयोग जानते हैं। कौन जीव कब उत्पन्न हो, कबतक रहे और कब उसका उपयोग समाप्त होकर उसका अन्त हो जाय—ये सभी बातें परमेश्वरके ज्ञानमें हैं; अतः वे ही जीवके स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। जो जन्म देता है, वही मार भी सकता है। दूसरेको क्या अधिकार है कि वह दूसरोंकी वस्तु नष्ट करे। उपयोगिताकी दृष्टिसे ही यदि रक्षा की जाय तो जीर्ण रोगीका पालन अनावश्यक होगा। बूढ़े माता-पिताकी भी रक्षा आवश्यक नहीं मानी जायगी तथा बूढ़ी गाय और बैलको मार डालनेमें कोई दोष नहीं समझा जायगा। यह उपयोगितावाद भारतीय दृष्टि नहीं है, पाश्चात्य पद्धति है। इसलिये वहाँके लोग मांसके लिये गौ आदि पशुओंका वध कर डालते हैं।

भारतीय दृष्टिकोण दूसरा है। यहाँ यह नहीं सोचा जाता कि दूसरे जीव हमारे लिये कितने उपयोगी हैं। अपितु यह सोचा जाता है कि दूसरे लोगों या जीवोंके लिये हम कितने उपयोगी हो सकते हैं। इसीलिये भारतसम्राट् दिलीपने एक गायकी प्राणरक्षाके बदले अपने शरीरको निर्जीव मांसपिण्डकी भाँति सिंहको समर्पित कर दिया—

उपानयत् पिण्डमिवामिषस्य।

स्वार्थमूलक प्रवृत्ति तो प्राणिमात्रमें समान है। मनुष्यकी यही विशेषता है कि वह धर्म कर सकता है। उसके कर्म यज्ञार्थ हो सकते हैं। स्वयं किसीसे सेवा या स्वार्थसाधन न कराकर सदा दूसरोंकी सेवा और सहायता करना परोपकार अथवा यज्ञ है। सबमें भगवद्दृष्टि रखकर सबकी सेवाको भगवान्‌की सेवा मानकर सदा परहित-साधनमें संलग्न रहना ही मानवताका उच्चतम आदर्श है। ऐसे व्यवहारसे मानव देव बनता है। नर नारायणका सखा बन जाता है। नारायणस्वरूप हो जाता है। और इसके विपरीत स्वार्थमूलक आसुरी वृत्तियोंको प्रश्रय देनेवाला मानव दानव हो जाता है, मानवताके बहुत नीचे गिर जाता है।

जो विश्वनियन्ता परमेश्वरके लिये उपयोगी हो, उसके बनाये हुए विश्वके संरक्षणमें जिसका उपयोग हो सके, वही वस्तुतः उपयोगी है और यही सच्चा उपयोगितावाद है। इसमें स्वार्थ हेय है और परार्थ एवं परमार्थ ध्येय। मनुष्य जब यह सोचता है कि अमुक जीव उपयोगी है या नहीं, तब वह अपनेको ही सामने रखता है। तात्पर्य यह कि जो मेरे अपने लिये उपयोगी है, उन्हींका यहाँ रहना सार्थक है। इसीलिये एक स्वार्थान्ध मनुष्य दूसरे मनुष्यका, अपने ही भाईका भी खून कर डालता है। क्या मनुष्यके लिये उपयोगी होना ही उपयोगिता है? यदि मनुष्यके

लिये अनुपयोगी होनेके कारण दूसरे जीव समाप्त किये जा सकते हैं तो दूसरे समस्त जीवोंके लिये अनुपयोगी होनेके कारण मनुष्य-जातिको ही क्यों न समाप्त कर दिया जाय? मनुष्यके पास इसका क्या उत्तर है? वह कभी अपनेको घाटेमें नहीं रखना चाहता और इसीलिये वह दूसरोंके प्रति न्याय नहीं कर सकता।

अतएव हमारे यहाँ व्यक्ति अथवा मनुष्यकी इच्छाको प्रधानता न देकर कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयमें शास्त्रको प्रमाण माना गया है। गीतामें स्वयं भगवान्‌का कथन है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।

इन आदेशोंका वीतराग महर्षियोंने संकलन किया है, जो धर्मनिष्ठ थे। स्वार्थमयी प्रवृत्तियोंसे ऊँचे उठकर मानवताके उच्चतम आदर्शमें—देवत्वमें सुप्रतिष्ठित थे, अतः शास्त्रीय आज्ञाओंके पालनसे न केवल मानवका ही, अपितु सम्पूर्ण जीव-समुदायका, समस्त जड़-चेतनमय जगत्‌का कल्याण हो सकता है। शास्त्रकी यह स्पष्ट आज्ञा है—'**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**' किसी भी जीवकी हिंसा न करो।

जबतक हृदयमें स्वार्थभावना डेरा डाले हुए है, तबतक केवल उपयोगितावादका सहारा लेनेवाला घोर अन्धकारमें ही गिरेगा। अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको वैसे कुतर्कोंसे बचना और शास्त्रीय आदेशोंके पालनमें दत्तचित्त रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(६१)

सुधार या संहार

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र यथासमय मिल गया था। उत्तरमें बहुत विलम्ब हुआ। कृपया क्षमा करें।

हिन्दू-कोड तथा सुधार-सम्बन्धी कानूनोंके सम्बन्धमें आपने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे बहुत ठीक हैं। इसके विरोधमें हिन्दू-संस्कृतिके प्रेमियोंको अधिक-से-अधिक प्रचार करना चाहिये। वर्तमान समाचार-पत्रोंमेंसे अधिकांशकी नीति धर्मके विषयमें उदासीन या विद्रोही है। इसीसे ऐसे धर्मविरुद्ध कानून जनताकी जानकारीमें नहीं पहुँच सकते। इस सम्बन्धमें धार्मिक पुरुषोंको प्रयत्नशील होना चाहिये और नये-नये धार्मिक पत्रोंका प्रकाशन करके जनताको स्थितिसे परिचित कराना चाहिये।

आपने नवीन दृष्टिवालोंकी कुछ आपत्तियाँ लिखी हैं। उनके विषयमें मेरे जैसे विचार हैं, नीचे लिखता हूँ—

(१) आर्य-संस्कृति और अन्य संस्कृतियोंमें बहुत अन्तर है। मनुष्य-जीवनमें प्राप्त करनेयोग्य चार पुरुषार्थ माने गये हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। आज संसारकी दृष्टि प्रधानतया 'अर्थ' और 'काम' पर है, परन्तु हमारे शास्त्रोंने धर्म और मोक्षकी प्रधानता बतलायी है। अर्थ और कामको वे धर्मका अनुयायी मानते हैं और उसी अर्थ और कामको मानव-समाजके लिये उपयोगी मानते हैं जो धर्मके अनुकूल हो। अन्य जातियोंमें जो विवाह-विच्छेद और विधवा-विवाह आदि प्रचलित हैं, काम (भोग)-की दृष्टिसे वे अवश्य बड़े उपयोगी जान पड़ते हैं। परन्तु क्या वे जातियाँ भोगप्रवृत्तिको इस

प्रकार निरंकुश करके शान्तिका अनुभव कर रही हैं? क्या उनकी भोग और अर्थ-लिप्सा उत्तरोत्तर प्रज्वलित होकर उन्हें अशान्तिकी आगमें जला नहीं रही है? उनका अर्थ और काम भारतीयोंसे बढ़ा हुआ अवश्य है, किन्तु क्या वे उसे पाकर सुखी हैं? यदि उसके कारण उन्हें अशान्ति और प्रतिहिंसा ही हाथ लगी है तो हमें उसकी क्या आवश्यकता है? सच पूछिये तो हमारी आजकी घोर अशान्ति और हिंसा-प्रतिहिंसाका कारण भी केवल धर्मरहित 'अर्थ-काम' ही है।

(२) जहाँतक धर्मसे सम्बन्ध है, हमें धर्मशास्त्रकी बातोंको बदलनेका कोई अधिकार नहीं है। बाल-विवाहके द्वारा हमें जो हानियाँ दिखायी देती थीं वह इस व्यवस्थाके कारण नहीं, बल्कि अन्य जातियोंके संसर्गसे देशका वातावरण बदल जानेके कारण थीं। धर्म-दृष्टिसे मनुजीकी व्यवस्था सर्वथा उपयुक्त है। आर्योंने विवाह-सम्बन्धमें पूर्ण पवित्रताका भाव अक्षुण्ण रखनेके लिये ऐसी व्यवस्था की थी। रजस्वला होनेपर बालिकामें कामुकता आ जाती है और वह पुरुषवर्गके प्रति सर्वथा शुद्ध भाव नहीं रख सकती। अब जो सम्बन्ध होता है उसमें बालिका और उसके अभिभावकोंकी दृष्टि वरकी भोग और अर्थ-शक्तिपर रहती है। किन्तु प्राचीन कालमें यह सम्बन्ध धर्म और मोक्षकी सिद्धिके लिये होता था। अब कन्याको एक 'मित्र' मिलता है और उस समय 'आराध्यदेव' मिलता था। आजकी बालिकाएँ क्या सावित्रीकी तरह एक बार मनसे वरण कर लेनेपर पतिकी अल्पायुका निश्चय हो जानेपर भी उसीको अपना पति बनाना पसन्द कर सकती हैं और राजकन्या होकर सत्यवान्-जैसे वनवासीको वर सकती हैं? उस बाल-विवाहके समय जितनी

सती-साध्वी नारियाँ हुई थीं आज वैसी क्यों दिखायी नहीं देतीं? इसके लिये एक दूसरा दृष्टान्त है दत्तक पुत्रका। जो बालक शैशवकालमें गोद लिया जाता है, उसका अपने पोषक माता-पिताओंमें ठीक जन्मदाता माता-पिताओंका-सा भाव रहता है और जो बालक वयस्क होनेपर गोद लिये जाते हैं उनकी दृष्टि गोद लेनेवालोंपर न रहकर उनके धनपर रहती है। यही कारण है कि पूर्वकालमें सती नारियाँ अपने कोढ़ी और भिखमंगे पतिकी भी परिचर्या करती थीं और आजकी सुशिक्षिता देवियाँ विवाह-विच्छेदकी आवश्यकता अनुभव करती हैं! परन्तु किया क्या जाय। विदेशियोंके प्रभावसे देशका वातावरण दूषित हो गया; पुरुष स्वार्थी और भोगी हो गये; इसीसे बेचारी विधवाओंको बड़ा कष्ट होने लगा। नहीं तो, प्राचीन आदर्शके अनुसार तो विधवा एक संन्यासीके समान आदरणीय और पूजनीय हो जाती है। यह विदेशियोंका ही प्रभाव था जिसने उनके जीवनको नष्ट किया और लोगोंको विधवा-विवाह धर्म दिखायी देने लगा। बालिकाका छोटी आयुमें विवाह होनेपर भी तीन या पाँच वर्षमें द्विरागमन होनेसे अल्प-वयस्कताका दोष नहीं रहता था।

(३) अनेकों जातियाँ तो वर्णसंकरता अथवा किन्हीं ऐसे ही कारणोंसे हुई हैं; परन्तु जातियाँ अनेक होनेपर भी वे हैं तो चार वर्णोंके ही अन्तर्गत। विवाह-सम्बन्धको अधिक स्वच्छन्द कर देनेसे भला वर्णधर्मकी कैसे रक्षा होगी? तब तो वर्णसंकरता और भी अधिक बढ़ जायगी। ऐसा करनेसे लोगोंको भोगकी छुट्टी तो मिल जायगी, परन्तु प्राचीन ऋषियोंका जो संयम और पवित्रताका आदर्श है उसे भी अवश्य आघात पहुँचेगा। जिन्हें भारतको पश्चिमके आदर्शपर चलाना है उनकी दृष्टिमें वर्णाश्रम-धर्म भले ही बन्धन हो, परन्तु आर्य-संस्कृतिका

तो यही प्राण है। यदि यह नष्ट हो जाता है तो हिन्दू-समाजके संघटनकी विचित्रता ही क्या रहती है? इसीके कारण तो हिन्दूधर्म लाखों वर्ष बीत जानेपर भी अक्षुण्ण बना हुआ है। यदि हमलोग भी अन्य प्राचीन धर्मोंकी तरह सबसे रोटी-बेटीका व्यवहार करनेमें स्वतन्त्र होते तो उन्हींकी तरह आज अस्त हो चुके होते। जो हिन्दू-संस्कृतिको जीवित रखना अनावश्यक समझें वे ही वर्णाश्रम-धर्मके उन्मूलनका विचार कर सकते हैं।

(४) स्त्री-जाति और विधवाओंपर अत्याचार होनेका जो मूल कारण है उसका विचार मैं दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कर चुका हूँ। स्त्रियोंको विशेष अधिकार देनेका अर्थ है—उन्हें पुरुषोंसे अलग कर देना। हिन्दू-संस्कृतिने पुरुष और स्त्री दोनोंको मिलाकर एक माना है। अतः पुरुषके अधिकार और सम्पत्तिकी वह पूर्णतया स्वामिनी है, उसे अलग बँटवारा करनेकी आवश्यकता नहीं है। सधवा रहनेपर वह पतिके साथ अभिन्न है और विधवा होनेपर उसके सम्मानपूर्वक निर्वाहका उसके पुत्र एवं अन्यान्य उत्तराधिकारियोंपर पूर्ण दायित्व है। उसे अधिकार देनेका अर्थ है पति और उसके उत्तराधिकारियोंसे उसे स्वतन्त्र कर देना। यह दृष्टिकोण पारस्परिक स्नेहसूत्रके लिये साधक है या बाधक। यह आप स्वयं समझ सकते हैं।

(५) धर्मशास्त्रने युग और कालभेदसे जिन आचरणोंको बदलनेकी आवश्यकता समझी उनके लिये स्वयं ही व्यवस्था कर दी है। उसके लिये किसी कमेटीको परिवर्तन करनेका अधिकार नहीं दिया है। अतः इस प्रकार कानून बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध है।

(६) ऐसे कानूनोंके द्वारा वर्णसंकरता न्याय्य हो जायगी। अब जो लोग समाजकी आँखोंसे छिपकर अथवा कुछ लोगोंकी जानकारीमें भी जो अवैध आचरण करते हैं, उन्हें धर्मदृष्टिसे कोई अच्छा नहीं समझता। आजकल प्रतिष्ठा तो स्वार्थवश पैसेकी की जाती है, उनके आचरणोंकी नहीं। वह भी लोगोंकी दृष्टिमें अधर्म ही है। क्या अधर्मको धर्म मान लेना ही उसके दुष्परिणामसे बचनेका उपाय है? इस प्रकार तो चोरी-व्यभिचार आदि भी कानूनके द्वारा धर्म बनाये जा सकते हैं।

(७) जिनको पिण्डदान नहीं होता वे नरकमें ही जाते हों ऐसी बात नहीं है। स्वयं धर्मवान् होनेपर वे स्वयं भी उत्तम लोक प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पिण्डदान भी पितरोंकी सद्गतिका एक प्रधान साधन है। उसके द्वारा अधोगतिको प्राप्त हुए पितरोंका भी उद्धार किया जा सकता है। वर्तमान स्प्रिचुअलिस्टोंने इसके प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त किये हैं। अतः पितरोंकी सद्गतिके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

(८) वेदोंका मुझे विशेष ज्ञान नहीं है। पर वेदोंमें भी श्राद्धादिका प्रतिपादन अवश्य है। शुक्ल यजुर्वेदकी उत्तर विंशतिमें तो एक 'पितृसूक्त' है, उसमें श्राद्धका खूब वर्णन है। पितृतर्पण पंचमहायज्ञोंमें है, जो हिन्दुओंके नित्य कर्मोंके अन्तर्गत है। इससे निश्चय होता है कि वेदोंमें इसका उल्लेख अवश्य है।

इस प्रकार आपकी शंकाओंके विषयमें मैंने संक्षेपमें अपने विचार लिख दिये हैं। आशा है, इनसे आपको कुछ सन्तोष हो सकेगा।

(६२)

सुधारके नामपर संहार

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने हमारे लिये लिखा कि 'आपलोग समाज-सुधारके विरोधी हैं, हजारों वर्षोंकी पुरानी लकीरके फकीर बने हुए उसी गन्दगीमें फँसे रहना चाहते हैं, यह आपकी इच्छा है; पर आप दूसरे लोगोंको, जो उस गन्दगीसे निकलना चाहते हैं, उसमें क्यों रोक रखना चाहते हैं। इस स्वतन्त्रताके युगमें दकियानूसी विचारोंको लादे रखना मूर्खताके सिवा और क्या है।'

इसका उत्तर यह है कि सुधारके हम भी पक्षपाती हैं। जहाँ-जहाँ बुराई आयी हो, वहाँसे उसे अवश्य हटाना चाहिये। परन्तु कोई बात पुरानी है, इसीलिये बुरी है और उसे नष्ट करना ही सुधार है, ऐसा मानना हमारी समझसे एक बड़ी भ्रान्ति है। सबसे बड़ा सुधार है—अपने मानस रोगोंको मिटाना। हम दूसरोंका सुधार करने जाते हैं, मनमें गन्दे विचारोंको भरकर। तब हम उनको क्या देंगे? हमारे अन्दर जो गन्दगी भरी है, उसीका वितरण करेंगे। सबसे पहले हमें करना चाहिये—आत्मसुधार। आत्मसुधारका अर्थ है अपने मनमें दैवी सम्पत्तिको भरना और फिर प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा उसका सर्वत्र वितरण करना। याद रखना चाहिये—भाषणकी अपेक्षा क्रियाकी शक्ति प्रबल होती है और उसकी आवाज भी कहीं ऊँची तथा गहरी होती है। आज लोग सुधारके नामपर उन्मत्त हैं। आपने सुधारोंकी जो सूची दी है, वह तो वस्तुतः संहार है, सुधार नहीं। आपकी सूचीकी कुछ प्रधान बातें ये हैं—'जाति-पाँति मिटा दी जाय; अन्तर्राष्ट्रीय विवाह हो; विवाहके

बन्धनोंको ढीला किया जाय, यदि विवाह न होकर स्वेच्छानुकूल स्त्री-पुरुष प्राकृतिक रूपसे मिलें तो और भी श्रेष्ठ; यज्ञोपवीत नहीं पहना जाय; हिन्दू-मुसलमानकी पृथक्ता बतलानेवाले चिह्न जैसे चोटी आदि हैं, वे न रखे जायँ; स्त्रीको तलाकका अधिकार हो; पूजा-पाठ बन्द कर दिया जाय; तीर्थोंको न माना जाय; शास्त्रोंको न माना जाय; सत्य-अहिंसादिकी अपेक्षा तुरन्त फल देनेवाली कपट, घृणा, द्वेष, असत्य तथा हिंसाकी क्रियाओंको आजके पीड़ित समाजमें प्रधानता दी जाय; कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) भावोंका खूब प्रचार हो; रूसके आदर्शानुसार भगवान्‌को न माना जाय; क्रान्ति और संघर्षको जीवनका प्रकाश बनाया जाय और पुरोहित तथा धनिक वर्गका समूल उच्छेद हो।'

हम तो इनमेंसे अधिकांश बातोंको प्रत्यक्ष संहार मानते हैं। सुधारके नामपर यदि इस संहारको अपनाया गया तो इससे भारतीय संस्कृतिकी जड़ ही कट जायगी। इस मानेमें हमें लकीरके फकीर तथा गन्दगीमें फँसे रहनेवाले बतलाया जाय तो हमें सहर्ष स्वीकार है। हम ऐसे सुधारमें महान् हानि समझते हैं इसलिये दूसरे लोगोंको भी इसके न माननेके लिये कहते हैं और ऐसा करना अपना धर्म समझते हैं।

स्वतन्त्रताका अर्थ उच्छृंखलता नहीं है, स्वतन्त्रता तो संयम सिखाती है। जहाँ मनमाना आचरण करनेमें स्वतन्त्रता मानी जाती है, वहाँ तो उच्छृंखल यथेच्छाचार है और ऐसी उच्छृंखलताका तो नाश ही समाजके लिये कल्याणकारी है!

हम तो प्रत्येक क्रियाको इस कसौटीपर तौलना चाहते हैं कि उसके परिणाममें कर्ताका तथा दूसरोंका अहित है या हित। 'जिस क्रियाका परिणाम अपना तथा दूसरोंका हित है,

वह पुण्य है; और जिसका परिणाम अपना तथा दूसरोंका अहित है, उसका नाम पाप है।' पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार सत्य-अहिंसादिका आचरण और भगवान्‌की सत्ताको मानना आवश्यक होता है। भगवान्‌को माने बिना तथा सत्य-अहिंसादि दैवी गुणोंका आचरण किये बिना ऐसी क्रिया हो ही नहीं सकती, जिसका निश्चित परिणाम दूसरोंके लिये और फलतः अपने लिये कल्याणकारी हो। स्वतन्त्रताके नामपर चलनेवाली उच्छृंखलता, सुधारके नामपर होनेवाला संहार और क्रान्तिके नामपर विस्तार पानेवाली भ्रान्ति तो पुण्यके नामपर पापको ही प्रश्रय देती है और उसीके आचरणमें प्रवृत्त करती है, जिसका निश्चित फल अकल्याण या दुर्गति है।

जहाँ सुधारकी आवश्यकता हो, वहाँ सुधार अवश्य करना चाहिये; परन्तु पुरानी वस्तुमात्रको ही विष समझना तो बहुत बड़ी भूल है। इस भूलसे भगवान् सबको सदा बचाते रहें।

जनसेवा या स्वार्थसेवा

आपका कृपापत्र मिला। वास्तवमें आजकलके जगत्में स्वार्थपरता बहुत अधिक बढ़ गयी है। देशसेवा, समाजसेवा, धर्मसेवा, भगवत्सेवा और निष्काम प्रेम आदि किसी भी नामपर आजका मनुष्य प्रायः अपने व्यक्तिगत प्रयोजनको ही मुख्यरूपसे सामने रखता है। इसीलिये सत्यानुरागके बदले मिथ्यानुराग बढ़ चला है। अफसर हों या नेता, व्यापारी हों या मजदूर, जमींदार हों या किसान, सभी जगह अपनी ही ओर दृष्टि है। सभी लेना चाहते हैं, देना कोई नहीं चाहता। सुखपूर्वक देना वहीं सम्भव होता है, जहाँ प्रेम होता है। प्रेम ही नीच स्वार्थका नाश करता है। प्रेम वास्तवमें होता है प्रेमके लिये ही। प्रेमका प्रयत्न होनेपर भी जहाँ वस्तुतः व्यक्तिगत प्रयोजनकी प्रधानता होती है, वहाँ प्रेमका प्रकाश नहीं होता। आज प्रायः सभी जगह अभिनय है; सच्चा अनुराग नहीं है। इसीलिये जो कुछ होता है, दिखावेके लिये होता है, अन्तरात्मासे नहीं।

जो देशप्रेमी हैं, जिनका हृदय देशकी दुर्दशापर रोता है, वे जिस किसी भी उपायसे देशका कल्याण चाहेंगे; वे यह क्यों चाहेंगे कि जनताको अपनी ओर खींचकर हम उसका नेतृत्व करें। सच्चा पुरुष किसी भी भय या प्रलोभनसे अपने सत्य पथसे नहीं डिग सकता। परन्तु जो प्रलोभनमें पड़कर ही किसी तरहका स्वाँग बनाते हैं, उनसे किसी भी क्षेत्रमें वास्तविक कल्याणकार्य नहीं हो सकता। कभी-कभी श्मशान-वैराग्यकी भाँति मनमें सचमुच ही जनसेवाकी इच्छा हुआ

करती है और उस समय जनसेवाके लिये व्यक्तिगत रूपसे भी कर्म-क्षेत्रमें उतरना उत्तम है; परन्तु केवल नेता बननेकी इच्छासे जनताको जिस किसी मार्गमें ढकेल देना नीच स्वार्थ ही नहीं है वरं पाप भी है। जो सच्चे जनसेवक होते हैं, वे न तो मिथ्या प्रचार करते हैं, न किसी भिन्न मत रखनेवालेके प्रति जहर उगलते हैं, न अनुचितरूपसे—भय या लोभ देकर किसीका मुख बन्द करना चाहते हैं, न दूसरेकी युक्तियोंको सुनने और उनपर विचार करनेमें आनाकानी करते हैं और न छल-प्रपंचका आश्रय लेकर अपने नेतापनके स्वाँगको ही बनाये रखना चाहते हैं। जो लोग ऐसा करते हैं, वे जनसेवक नहीं हैं, वे यथार्थमें स्वार्थके गुलाम हैं।

उद्देश्य कितना ही ऊँचा हो, पर मनुष्य जबतक स्वयं ऊँचा नहीं होता, तबतक उसके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिसके मनका जैसा भाव होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(गीता १७। ३)

—और जैसा स्वरूप होता है, उसीके अनुसार क्रिया होती है। इसीलिये मनुष्य कई बार अपनेको महान् उद्देश्यका साधक मानकर अपने भावानुसार उद्देश्यके विपरीत कार्य कर बैठता है और आप ही अपनेको धोखा देकर गिर जाता है। अतएव मनुष्यको चाहिये वह पहले ही नेता, पथप्रदर्शक या गुरु आदि न बनकर अपनेको ऐसा बनावे जिसमें उसके अन्दर आदर्श सद्‌गुणोंका और महान् ऊँचे चरित्रका विकास हो। फिर यदि स्वाभाविक ही जनता उसको नेता मान ले और उसका पदानुसरण करने लगे तो हानि नहीं है। दोष

यही है, हमलोग दूसरोंको ऊँचा बनाने जाते हैं, पर स्वयं ऊँचा बनना नहीं चाहते। मनुष्य निर्माण करना चाहते हैं, पर अपनेमें मनुष्यत्वका विकास नहीं करते। इसीसे जिनको अपने पीछे चलाना चाहते हैं, अपनी दुर्गतिके साथ उनकी भी दुर्गति ही करते हैं। भगवान्से प्रार्थना करें कि वे हमें ऐसी आत्मशुद्धि और आत्मशक्ति प्रदान करें जिससे हम सच्चे मनुष्यत्वको प्राप्त हों और क्षुद्र स्वार्थको छोड़कर, आसक्तिरहित होकर, स्वमतप्रतिष्ठाके लिये नहीं—परन्तु प्रेमके आकर्षणसे केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही कर्म करें। फिर चाहे हम किसी क्षेत्रमें हों, हमारे कर्म सत्यज्ञानके मूलस्रोतसे निकले हुए सत्यस्वरूप होंगे और उनसे हमारा और जनताका भी निश्चित कल्याण होगा।

(६४)

स्वधर्मयुक्त स्वराज

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। कई कारणोंसे उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपने लिखा कि 'इस समय तो तमाम भारतवासियोंको सब कुछ भूलकर स्वराजसाधनामें लग जाना चाहिये। जबतक स्वराज न होगा, तबतक कोई भी धार्मिक या आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता। कल्याणके द्वारा भी इस समय स्वराज-साधनाकी ध्वनि निकलनी चाहिये' आदि-आदि।

आपने जिस शुद्ध भावसे यह सलाह दी है, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। इस बातको मैं मानता हूँ कि भारतवर्षको राजनीतिक स्वतन्त्रताकी बड़ी आवश्यकता है और वह शीघ्र-से-शीघ्र मिलनी चाहिये तथा यह भी किसी अंशमें सत्य है कि स्वराजके बिना धार्मिक और आध्यात्मिक प्रगति भी रुकती है। अँग्रेजोंकी कूटनीतिसे भारतका बड़ा अहित हुआ है, अतः इनके चंगुलसे छूटना बहुत ही जरूरी है; इसलिये स्वराज-साधनमें जो महानुभाव लगे हुए हैं, उनके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए तथा आपकी सलाहके लिये आपको धन्यवाद देते हुए ही मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि भारतवर्षकी संस्कृतिमें उसके सच्चे 'स्व' भगवान् हैं। भगवान्‌को न भुलाकर भगवान्‌की सेवाके लिये जो कुछ भी और जितनी कुछ भी लौकिक उन्नति की जाय, सभी श्रेष्ठ है। यही भारतवर्षका स्वधर्म है। असलमें भारतका लक्ष्य यह स्वधर्म है, स्वराज नहीं। मान लीजिये यदि भगवान्‌के आश्रयरूप धर्मको हमने छोड़ दिया—विधर्मीय

और विजातीय संस्कृतिको अपना लिया और उसीकी छत्रच्छायामें स्वराज पाया तो वस्तुतः उसका नाम स्वराज होनेपर भी वह होगा पर-राज्य ही। समाज, स्वदेश, साहित्य, साम्राज्य, स्वराज्य सभीकी उपादेयता है और सभीकी आवश्यकता है, परन्तु है इनके यथार्थ स्वरूपमें ही। 'कल्याण' इसी भगवदाश्रयरूप स्वधर्मका प्रचार करना चाहता है और इसीके आधारपर हृदयसे राजनीतिक स्वतन्त्रता भी चाहता है।

हम कुछ भी काम करें, हमारा लक्ष्य होना चाहिये भगवान्। और हमारे सभी कामोंमें भगवान्की सेवाका भाव रहना चाहिये। हमारा कर्तव्य ही है भगवान्की प्रीतिकामनासे कर्म करना। संसारमें हम जो कुछ भी देख रहे हैं, सब भगवान्का ही पसारा है, उन्हींकी लीला है। भगवान् ही इसमें ओतप्रोत हैं, यह समझकर ही हमें स्वराज-साधनामें लगना चाहिये।

इससे आप यह न समझें कि मैं स्वराजका विरोधी हूँ। मैं स्वराजका विरोधी नहीं, मेरा विरोध तो भगवद्-विमुखतासे है। और मैं जब अपने शुद्धभावसे अन्तरात्माका यही आदेश पाता हूँ और इसीमें समाज, देश और विश्वका कल्याण देखता हूँ, तब दूसरी बात कैसे कहूँ। आशा है आप मेरे इस वक्तव्यका सीधा अर्थ ही लेंगे।

(६५)

वर्तमान राजनीतिका स्वरूप

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। मैं भी तरुण अवस्थाके प्रारम्भसे ही राजनीतिक जगत्के किसी एक कोनेमें था। बीसों वर्ष उसमें बीते भी। परन्तु भगवान्की प्रेरणासे उसमेंसे निकलकर दूसरे क्षेत्रमें आना पड़ा। यह बुरा हुआ या अच्छा, इसका निर्णय करनेका मेरा काम नहीं, न निर्णय जाननेकी इच्छा ही है। परन्तु इतना मैं अनुभवसे कहता हूँ कि उस समयकी राजनीतिसे इस समयकी राजनीति बहुत नीचे स्तरपर आ गयी है। उसमें केवल त्याग था। उस समयके युवक केवल नींवके पत्थरोंकी भाँति अपना निस्तब्ध बलिदान करते थे। उनके सामने न कोई प्रलोभन था, न उनके लिये कोई पुरस्कार था। मिलता था समाजसे अपमान और तिरस्कार, जिसको वे सानन्द पी जाते थे और मरणोन्मादमें झूमते हुए अपनेको मिटा देते थे। आजका राजनीतिक जगत् उससे सर्वथा जुदा है। मैं इस सम्बन्धमें तुम्हें कोई उपदेश नहीं दे सकता; क्योंकि मैं इस क्षेत्रसे प्राय: सर्वथा अलग हूँ। वर्तमान राजनीतिके स्वरूपकी जरा-सी झाँकी करानेके लिये 'World-birth' के अनुभवी लेखक श्री Shaw Desmond के कुछ वाक्योंका यहाँ अनुवाद देता हूँ; इनको पढ़कर तुम जिस उलझनमें आज पड़े हो, उसका कारण जान सकोगे और अपने लिये कोई मार्ग भी शायद चुन सकोगे।

'घुड़दौड़की भाँति राजनीतिमें भी कई ऐसी बातें हैं जो मनुष्यको नीचेके स्तरमें फेंक देती हैं। वे अच्छे मनुष्यको बुरा और बुरेको और भी पतित बना देती हैं। वे यौवनकी तीव्रताको कुण्ठित तथा जीवनके लिये आवश्यक वस्तुओंके भावात्मक मूल्यको कम कर देती हैं। इसका कारण उस मेघके टुकड़ेके समान बिलकुल स्पष्ट है, जो

सूर्यको ढक लेता है। हमारी आजकी राजनीति भी सदाकी भाँति अधिकारपरक है।' *

कूटनीतिकी चालोंसे अनभिज्ञ और आदर्शवादके उत्साहसे परिपूर्ण आगे बढ़नेके लिये उत्सुक तरुण राजनीतिज्ञ अपने दल या समुदायके तत्त्वावधानमें कांग्रेस, पार्लियामेंट या प्रतिनिधि सभामें चुन लिये जानेके पश्चात् तुरन्त ही अपने-आपको एक उलझनमें पाता है।

उसे चुनावमें सफलता प्राप्त करनेके लिये पहलेसे ही सत्यको छिपाने और झूठे वादे करनेकी मोहक कलामें निपुण कर दिया जाता है। पुराने अनुभवी खूँसट उसे बतलाते हैं कि इस पृथ्वीमण्डलमें ऐसा कोई मनुष्य है ही नहीं, जो सत्यपूर्ण सत्य, केवल सत्य बोलकर सफल हो सके।

अब उसके सामने दो ही मार्ग हैं—या तो वह दलके नेताओंके—पुराने खूँसटोंके विरुद्ध—जो न तो इस जीवनमें और न मरणके बाद ही उसे क्षमा करेंगे—खड़ा हो और अपनेको मंचके पीछे नेपथ्यमें फेंका हुआ पावे, जहाँसे वह अपनी तरुणावस्थाकी उत्सुकतापूर्ण आवाजको सुनानेके लिये कोई अवसर ही नहीं पा सके या वह उन नेताओंकी हाँ-में-हाँ मिलानेवाला होकर रहे, जिससे अन्तमें कदाचित् वह प्रभुताके प्रसादसे पुरस्कृत किया जावे। आम या इमली—दोनोंमेंसे वह जो चाहे पसन्द कर ले। यदि आदर्शवादके पीछे पड़कर वह इस पुराने यन्त्रसे लड़नेकी ठानेगा तो उसपर उस यन्त्रके बाहरी बेलनका इतना दबाव पड़ेगा कि उसे पिस जाना पड़ेगा और वह इतनी फुर्तीसे बाहर फेंक दिया जायगा कि उसको इसका पता

* Like horse-racing, there is something in politics which degrades. They turn good men into bad men and bad into worse. They blunt the fineness of youth and destroy the sensitive evaluation of the things by which we live. And the reason is as plain as the cloud, which blots out the Sun. Our politics today are as always, "power-politics". (World-birth)

भी न चलेगा कि मैं कहाँसे कहाँ आ गया। पर यदि वह उन पुराने अनुभवी खूँसटोंका होकर चलेगा तो उसे उनके द्वारा प्रोत्साहन मिलेगा और फलत: जैसे बुढ़ापा जवानीको नष्ट कर देता है, वैसे ही वह भी बर्बाद हो जायगा।

क्या हमें आदर्शवादके ऐसे भक्त तरुण नहीं मिले हैं, जिन्होंने अपने एक समयके आदर्शवादके प्रेमको ठुकराकर अपने-आपको प्रभुत्व और विशेषाधिकारके बदलेमें बेच डाला है?..... खेदकी बात है कि कई बार उन्हें ऐसा करते बड़ी प्रसन्नता होती है।.....क्या अन्तमें उनको ऐसे पद तथा प्रभुत्वसे पुरस्कृत होते नहीं पाया है जिससे वे इस लोक और परलोक दोनोंमें शाश्वत नारकीय यातनाएँ भोगते रहे हैं?'*

यह आजकी राजनीतिका स्वरूप है, गहरी नजरसे देखोगे तो तुम्हें इस समय भारत, यूरोप और अमेरिका आदि सभी देशोंमें इसीके विविध रूप दिखायी देंगे। अब सोच लो तुम्हें क्या करना है।

---

* The young Politician, the flush of idealism upon the brow of innocence, eager to win his spurs, soon after he has been returned under the auspices of his party or group, to Congress or Parliament or Chamber of Deputies finds himself, as we have already indicated, faced with the following problem.

He has already been coached in the gentle art of suppressio veri and of factitious promise in order to get elected, and as the "old hands" will tell him, no man on this earth would stand a chance if he told the truth, the whole truth and nothing but the truth!

Now, he can either stand out against his party leaders, veterans in sin, who neither in life nor death will forgive him, and find himself relegated to back-stage with no chance to make his young eager voice heard, or he can go in with those leaders as a "Yes-Man", as they are known, and so at long last Perhaps be rewarded with the lollipops of office. Jam or ginger? he can take his choice. If he, through idealism, fight the

(६६)

सच्चा विचारस्वातन्त्र्य

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तर देरसे जा रहा है। क्षमा करें। विचार-स्वातन्त्र्यका अर्थ मनमाना आचरण करना नहीं है। 'मेरे मनको जो अच्छा लगेगा, मेरी इन्द्रियाँ जिसमें सुख मानेंगी, मैं वही करूँगा, किसी भी नियम-संयममें, बन्धनमें नहीं रहूँगा। किसीकी हानि हो या लाभ, अपना भी नैतिक पतन हो या उत्थान, मैं इसकी परवा नहीं करूँगा। मेरी स्वतन्त्रताके आगे किसीका भी कोई मूल्य नहीं है—ऐसा मानना विचारस्वातन्त्र्य नहीं है। यह तो यथेच्छाचार है और प्रत्यक्ष ही मन-इन्द्रियोंकी गुलामी है। जो मन-इन्द्रियोंका गुलाम बनकर उनकी तृप्तिके लिये विवेकशून्य यथेच्छ आचरण करता है, वह स्वतन्त्र कहाँ है; असलमें तो वही परतन्त्र है। जो शरीरसे परतन्त्र है, पर मन-इन्द्रियोंपर जिसका अधिकार है, जो उनके वशमें नहीं है, पर वे ही जिसके वशमें हैं, वही

Machine, he will be flattened out by the party steam-roller and will be so quick going that he won't even know he has come ! If he ride on the Juggernaut, he will be patted on the back by the "Old Hands" and spoiled as so often Age spoils Youth.

Have we not seen in all these countries the once young idealists "sell out", as the process is perfectly well known, to Power and Privilege, and, with the politician's capacity for self-deception, Unhapily sometimes quite sincerely ? Have we not seen them turn their upholstered backs upon the leanness of old comrades and old ideals, and find themselves sometimes, though not always, ultimately rewarded by power and position to their infernal eternal undoing both in this world and the world to come ! Poor devils !—usually democratic devils of that ilk. (World-birth,)

वस्तुतः स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रताके लिये नियमोंकी आवश्यकता है, संयमकी आवश्यकता है एवं नित्य अन्दर छिपे रहनेवाले काम-क्रोध, ईर्ष्या-असूया, राग-द्वेष, दम्भ-हिंसा आदि शत्रुओंके पूर्ण दमनकी आवश्यकता है। जो मन-इन्द्रियोंको दोषोंसे रहित और नित्य संयमके बन्धनमें रखता है, वही बन्धनसे छूटता है। यह बन्धन मुक्तिके लिये होता है और इस बन्धनसे छूटना नित्य बन्धनमें बँधना होता है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'समस्त पाप कामनासे होते हैं और कामना मन-इन्द्रियोंमें रहती है। आत्मा मन-इन्द्रियोंका दास नहीं, उनका स्वामी है, उनसे श्रेष्ठ है, इस प्रकार विचारकर कामरूपी शत्रुको मार डालना चाहिये।' वस्तुतः यह सर्वथा सत्य है। आत्मामें बड़ी शक्ति है। यदि आत्माकी मूक सम्मति न हो और वह बलपूर्वक मन-इन्द्रियोंको रोके रहे तो मन-इन्द्रियोंमें शक्ति नहीं कि वे आत्माके विरुद्ध किसी भी पापमें प्रवृत्त हो सकें। पर हम जब अपनेको असमर्थ मानकर मन-इन्द्रियोंकी गुलामी स्वीकार कर लेते हैं, तब इन्द्रियाँ अन्धे घोड़ोंकी भाँति मनरूपी लगामके साथ ही शरीररूपी रथको, उसमें सवार रथी (हम)-को और बुद्धिरूपी सारथीको चाहे जिस गड्ढेमें ले जाकर डाल देती हैं और परिणाममें लगातार दुःखोंका भोग करना पड़ता है। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषरहित अपने वशमें

की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका (वैध) भोग करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है और उस प्रसन्नतासे उसके सारे दुःखोंका नाश हो जाता है एवं फिर उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

विषयोंका सेवन बुरा नहीं है, पर वह किया जाना चाहिये इन्द्रियोंको वशमें करके। उनके वशमें होकर नहीं। जो ऐसा पुरुष है वही स्वतन्त्र है और उसीके विचार भी स्वतन्त्र हैं। वह स्वयं बन्धनमुक्त होता है और दूसरोंको भी बन्धनसे मुक्त करता है। पर जो स्वयं बन्धनमें है, उसका दूसरोंको मुक्त करनेकी बात करना तो पागलपनमात्र है।

(६७)

दुराचार-भ्रष्टाचार कानूनसे नहीं मिट सकता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आजकल इस विषयपर बहुत अधिक चर्चा हो रही है। पत्रोंमें यही विषय है, सभाओंमें यही है, धारासभाओंमें यही है और पार्टियोंमें भी यही है। सभी इस रोगको समझते हैं, सभी दवा बताते हैं, नित्य नये-नये नुस्खे भी निकलते हैं, कानून बनते हैं, भ्रष्टाचार-निवारण-समितियाँ बनती हैं और उपदेश-आदेश होते हैं; परन्तु फल विपरीत ही होता है। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' इसपर मुझे भी बहुत-से मित्रोंको लिखना पड़ा है, परन्तु इससे होता क्या है। यह ध्रुव निश्चय समझिये—दुराचार और भ्रष्टाचार समाचारपत्रोंके लेखोंसे, दिखौआ व्याख्यानोंसे और कानूनोंसे कभी नहीं मिट सकते। इनकी जड़ तो हमलोगोंके हृदयोंमें है। भगवत्कृपासे जब मनुष्यकी चित्तवृत्ति भगवान्‌की ओर आकृष्ट होगी, जब वह सत्य और त्यागका महत्त्व समझेगा और सर्वव्यापी भगवान्‌की सत्ता सर्वत्र समझकर एकान्तमें—मनमें भी पापका आचरण करनेमें लज्जा या भयका अनुभव करेगा, तभी दुराचार और भ्रष्टाचार बन्द होंगे। नहीं तो, नये-नये कानून बनते जायँगे, नये-नये रास्ते निकलते जायँगे। एक-दूसरेकी आलोचना लोग करेंगे, एक-दूसरेके पापोंका उद्‌घाटन करनेमें सुखका अनुभव भी करेंगे; पर स्वयं पापका त्याग नहीं करेंगे। उसे लोभीके धनकी-ज्यों छिपा-छिपाकर रखेंगे और नया-नया बढ़ाते ही जायँगे। इस स्थितिमें कानून क्या करेगा। पापसे, दुराचारसे, भ्रष्टाचारसे घृणा होनी चाहिये। मनमें उनके प्रति असह्य बुद्धि होनी चाहिये। तभी उनसे मनुष्य हटता है। जब मनमें इनके प्रति प्रियबुद्धि है,

गौरवबुद्धि है और ऐसा करनेमें बुद्धिमानीका गर्व है, तब मनुष्यसे ये क्यों छूटेंगे। वह वस्तुतः छोड़ना चाहता ही नहीं। पर क्या किया जाय। आज तो 'कुएँ भाँग पड़ी' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। कोई सरकारी महकमा, कोई अधिकारिवर्ग, कोई क्लर्क-श्रेणी, कोई व्यापारी-वर्ग, कोई उन्नतिकामी और दुराचार-भ्रष्टाचार-विरोधी संस्थाओंका समुदाय—कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है, जिसमें न्यूनाधिक रूपसे दुराचार और भ्रष्टाचारका दोष सर्वथा न आ गया हो। इसका एकमात्र कारण है—घोर विषयासक्ति—जिसके कारण शारीरिक सुखोपभोगकी राक्षसी इच्छा, भगवान्‌की सर्वव्यापक सत्तामें और कर्मफलभोगमें अविश्वास, शास्त्रमें अश्रद्धा और धर्मकी अवहेलना आदि दोष समाजमें प्रबलरूपसे आ गये हैं।

इन दोषोंके दूर होनेका उपाय है—'हिंदू-संस्कृति' के अनुसार जीवनका लक्ष्य त्याग हो, और त्यागकी तैयारी करनेमें ही बालकपनसे लेकर बुढ़ापेतक सारी क्रियाएँ हों। जीवनका आरम्भ संयमसे हो—बीजारोपण ही संयमसे हो, संयममें ही उसका पालन-पोषण हो, संयममें ही ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षाकी प्राप्ति हो, संयममें ही धन-वैभव और पद-अधिकारोंकी प्राप्ति हो और संयममें उनका सदुपयोग होकर अन्तमें पूर्ण त्यागमें पहुँचकर जीवन त्यागरूपमें ही पर्यवसित हो जाय। यह सर्वस्वत्याग ही हिन्दू-संस्कृतिका 'संन्यास' है। गर्भाधानसे लेकर संन्यासतक सारा जीवन संयममय होता है और उसकी धारा स्वाभाविक ही अनवरत उसी प्रकार भगवान्‌की ओर चलती है, जिस प्रकार गंगाकी धारा समुद्रकी ओर प्रवाहित होती है। इस प्रकार धर्मका आश्रय लेनेपर ही संसारसे दुराचार, भ्रष्टाचार, पाप-ताप दूर होंगे और तभी

सच्चे सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसके बिना बाहरी करोड़ों उपायोंसे भी पाप न मिटेंगे और जब पाप नहीं मिटेंगे तब ताप मिटनेका तो प्रश्न ही क्यों उठना चाहिये। पर आज तो दुर्भाग्यवश हमलोग धर्मके नामसे ही चिढ़ने लगे हैं। धर्मका बहिष्कार करके ही सुख-शान्ति पाना चाहते हैं। इसी प्रमादका परिणाम प्रत्यक्ष है। समाजका नैतिक पतन उत्तरोत्तर गहरा होता जा रहा है और इसीके साथ-साथ क्रूरता, संघर्ष, संहार, हिंसा आदि दोष और भाँति-भाँतिके दुःख भी बढ़ रहे हैं और यही दशा रही तो इनका सहज ही अन्त होना भी कठिन ही है।

(६८)

जनसंख्याकी वृद्धि, अन्नकी कमी और भ्रष्टाचारमें रुकावट कैसे हो?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला था। आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें नीचे लिखे जाते हैं—

(१) आप लिखते हैं कि भारतवर्षमें जनसंख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। आजसे पचहत्तर वर्ष पहले जितनी संख्या थी, उससे आज दूनी है। इसी क्रमसे जनसंख्या बढ़ती गयी तो इतना अन्न कहाँसे आवेगा तथा लोगोंके रहनेके लिये जमीन भी कहाँसे आवेगी?

इसका यथार्थ उत्तर तो यह है कि इसकी चिन्ता विश्वनियन्ता भगवान् करेंगे। वे कब कहाँ जनसंख्या घटानी-बढ़ानी है, इसकी भी व्यवस्था आप ही कर देते हैं और सबके रहने तथा पेट भरनेका साधन भी जुटा देते हैं। परन्तु बाहरी तौरपर हमारे करनेके भी कुछ उपाय हैं; उन्हें हमको तथा हमारी सरकारको करना चाहिये। वे उपाय ये हैं—

(क) जीवनमें संयम हो, एक सन्तानके बाद दूसरी सन्तान कम-से-कम छः वर्षके पहले उत्पन्न न हो, पचास वर्षके बाद सन्तान उत्पन्न न की जाय; इसके लिये सन्ततिनिरोधके कृत्रिम साधनोंका प्रयोग न करके संयम तथा ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया जाय तो जनसंख्याकी वृद्धिमें रुकावट आ सकती है।

(ख) भारतमें अभी भी करोड़ों एकड़ भूमि बिना जोते पड़ी रहती है। उस भूमिको ठीक करके अन्न उपजाने लायक बनाया जाय और उसमें खेती की जाय। यह काम सरकार ही करा सकती है।

(२) आप लिखते हैं कि प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयोंका अन्न विदेशसे आता है, भारतवर्षका यह अन्नसंकट कैसे मिटे?

इसका यथार्थ उत्तर तो यह है कि हमलोग भगवान्‌में विश्वास करके स्वार्थत्यागपूर्वक जीवनको यज्ञमय बना लें तो इतना अन्न उत्पन्न हो कि हमारी आवश्यकताकी पूर्तिके अतिरिक्त बहुत-सा अन्न बच रहे। हम बाहरी उपायोंको सोचते हैं, मूलपर ध्यान नहीं देते, यह हमारा दुर्भाग्य है। बाहरी उपाय भी हैं और उनमेंसे कुछ ये हैं—

(क) अन्नपरसे नियन्त्रण हटा दिया जाय और यातायातकी पूरी सुविधा हो जाय तो अन्नसंकट बहुत कुछ दूर हो सकता है। अब भी अन्न लोगोंको मिलता है। कहीं गेहूँ बहुत सस्ता है, तो कहीं बहुत ऊँचे दामपर भी नहीं मिलता। जहाँ गेहूँका राशन नहीं है ऐसे कलकत्ते-जैसे महानगरमें हजारों मन गेहूँ प्रतिदिन बिकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गेहूँ तो है, पर वह सरकारके आँकड़ोंमें नहीं है। बहुत सम्भव है कि सरकारी आँकड़ोंमें भूल हो। यदि सब जगह स्वतन्त्रतासे स्वाभाविक रूपसे अन्न मिलने लगे तो कुछ दिनोंमें महँगी भी दूर हो जाय और अन्न-कष्ट भी बहुत कुछ मिट जाय।

(ख) जब देशमें धर्मकी भावना थी, शास्त्रमें विश्वास था, तब लोग व्रत-उपवास करते थे। इससे अन्नकी बहुत बचत हो जाती थी। 'कल्याण' के पुराने अंकोंमें महात्मा नारायण स्वामीजीकी सूचना छपी थी कि महीनेमें चार उपवास (दो एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा) अवश्य किये जायँ। इससे पुण्यलाभ तो निश्चित होता ही है, स्वास्थ्यमें भी बड़ा लाभ होता है। पर ज्यों-ज्यों धर्म-भावना हटी, त्यों-ही-त्यों व्रत-उपवास भी घट गये। यदि अब भी धर्मके आधारपर इसका प्रचार हो

जाय और यदि छत्तीस करोड़ मनुष्योंमें आधे मनुष्य भी चारों दिन उपवास करने लगें तो आज जितना अन्न विदेशोंसे आता है, उतनेकी सहज ही बचत हो सकती है। पर आज तो धर्मके नामसे ही घृणा पैदा करायी जाती है और उसे साम्प्रदायिक बताया जाता है, तब कैसे कार्य हो।

(३) आप लिखते हैं कि इतने नये-नये कानून बनाये जाने और इतना उपाय करनेपर भी घूसखोरी और चोरबाजारी बन्द नहीं हो रही है, इसके बन्द होनेका सरल उपाय क्या है?

सो इनके बन्द होनेका सरल उपाय है—धर्ममें विश्वास, भगवान्‌में विश्वास। जबतक मनुष्य पापको पाप मानकर एकान्तमें भी उसके करनेमें नहीं हिचकेगा, तबतक कानूनसे पाप नहीं रोका जा सकता। दुष्कर्मसे घृणा होनी चाहिये, तभी मनुष्य उससे बचता है। उसमें गौरव-बुद्धि हो जाय तब तो कोई उपाय ही नहीं है। ऐसी हालतमें कानून मानने और मनवानेवाले स्वयं ही कानून तोड़नेका रास्ता निकाल लेते हैं और किताबोंमें कानूनके रहते और कहीं-कहीं, जहाँ परस्पर मेल न हो सकता हो—कानूनी कार्यवाही होते रहनेपर भी पाप बन्द नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है धर्म और भगवान्‌में विश्वास हो, दुष्कर्मसे घृणा और भय हो। आज ये दोनों ही बातें बुरी तरह घट रही हैं। तब क्या उपाय है। इसका तो यही उपाय होगा कि पाप करते-करते मनुष्य जब गिर जायगा और पापके अनिवार्य परिणाम भीषण सन्तापको प्राप्त होगा तब उसे चेत होगा—तभी भगवत्कृपासे मानव-जातिका यह महान् संकट दूर होगा।

असलमें सारी विपत्तियोंके नाशका एकमात्र उपाय है 'सच्चे मनसे भगवदाश्रय'। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(६९)

सच्ची स्वतन्त्रता और विजय क्या है?

सप्रेम हरिस्मरण। आपका लम्बा पत्र मिला। आपने स्वतन्त्रता और विजयके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये, अवश्य ही उनका अपने क्षेत्रमें किसी अंशमें महत्त्व है, परन्तु वास्तविक स्वतन्त्रता और विजय तो दूसरी ही है। सच्चा स्वतन्त्र वह है, जो मोहके बन्धनसे मुक्त हो गया हो और सच्चा विजयी वह है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्णरूपसे विजय प्राप्त कर ली हो। भौतिक बलसे भूमिपर तो काम-क्रोधपरायण राक्षसों और असुरोंका भी अधिकार हो सकता है। वे भी त्रैलोक्यविजयी होकर अपनेको परम स्वतन्त्र मान सकते हैं। प्राचीनकालके इतिहास और वर्तमानकी अनेक घटनाएँ इसमें प्रमाण हैं। परन्तु इन स्वतन्त्रताप्राप्त त्रैलोक्यविजयी व्यक्तियोंमें ऐसे कितने थे जो अपने मनकी कामना, वासनाओंको जीतकर काम, क्रोध, लोभरूपी आभ्यन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुके हों। ऐसा तो वे ही लोग कर पाते हैं, जो कठोर आत्मसंयमके नियमोंके बन्धनमें रहकर अपनेको इसका सुयोग्य अधिकारी बना लेते हैं। संयमके कठोर बन्धनसे ही मन-इन्द्रियोंके दासत्वकी बेड़ियाँ कटती हैं। जीव मन-इन्द्रियोंका स्वामी है, उनसे बलवान् और श्रेष्ठ है; परन्तु अपने बलको भूलकर वह इनका दास बना हुआ है और इनके वशमें होकर विषयोंमें आसक्त हो रहा है। फलतः नाना प्रकारके दुष्कर्म और पाप करनेमें प्रवृत्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था कि मन-इन्द्रियोंमें बसनेवाला और भोगोंकी बड़ी-से-बड़ी मात्रासे भी न अघानेवाला यह पापी

काम ही मनुष्यका परम शत्रु है, यही क्रोध बन जाता है। अतएव महाबाहो! तुम इस कामरूपी भयंकर शत्रुको मारकर विजयी बनो—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

अतएव हमें इस वर्तमान बाहरी स्वतन्त्रतासे न तो फूलना चाहिये, न भूलना ही। स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस स्वतन्त्रताने कहीं हमारे भीतरी शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सरादिको बढ़ा दिया तो हमें और भी अधिक मन-इन्द्रियोंकी गुलामी स्वीकार करनी पड़ेगी, हम और भी अधिक पराजित और परतन्त्र हो जायँगे। इसलिये हमें अपने अन्तरात्माकी ओर देखना चाहिये और इसी कसौटीपर कसकर निर्णय करना चाहिये कि हम वास्तवमें आजाद हुए हैं या नहीं। आजादीके नामपर कहीं बर्बाद तो नहीं हुए जा रहे हैं !!

विचारस्वातन्त्र्य और व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी दुहाई देकर प्रगतिके नामपर हम जो ऐसा कहते हैं कि 'हम किसी शास्त्रको, समाजको, बन्धनको और नियमको नहीं मानते। हम तो वही करेंगे, जो हमारे मनमें उचित जँचेगा।' इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि हमारी मानसिक गुलामी बढ़ रही है और हम स्वतन्त्रताके नामपर उच्छृंखलताकी उपासनामें लगे हैं एवं ऐसा करके अपनेको अधिक-से-अधिक बन्धनोंमें बाँध रहे हैं। भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त करता है और न परम गतिको तथा परम सुखको ही।'

हमें भौतिक स्वतन्त्रताके साथ ही आत्माकी स्वतन्त्रता—जो सच्ची स्वतन्त्रता है—प्राप्त करनी चाहिये और बाहरी विरोधियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके साथ ही अपने अन्दर बैठे हुए असत्य, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ और वैर आदि शत्रुओंका भी समूल नाश करना चाहिये। यह काम भाषणों तथा लेखोंसे नहीं होगा। इसके लिये भगवत्कृपापर विश्वास करके साधना करनी पड़ेगी और यही अवश्य कर्तव्य है। भारतवर्षके पास तो यही परम धन है, जिसकी रक्षा और वृद्धि करके इसे जगत्के त्रितापतप्त जीवोंमें वितरण करना चाहिये। ऐसा न करके हम यदि स्वतन्त्रता और विजयकी झूठी शानका डंका पीटते रहेंगे तो कुछ भी नहीं बनेगा। आत्मा परतन्त्र ही रहेगा और उसका और भी पतन होगा। भगवान्ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

(१६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।'

(७०)

स्वाधीनताके नामपर उच्छृंखलता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। जहाँतक मेरी समझ है, आप जिस प्रकारकी स्वाधीनता चाहते हैं, वह स्वाधीनता नहीं है, वह तो उच्छृंखलता है। स्वाधीनता मानवताकी रक्षा करती है, मानवको देवत्वमें ले जाती है और उसे कल्याणपथपर आरूढ़ कराके जीवनके परम लक्ष्यतक पहुँचा देती है। परन्तु उच्छृंखलता तो ऐसा धक्का लगाती है कि ऊपर उठा हुआ मनुष्य भी नीचे गिर जाता है। मन-इन्द्रियोंपर स्वामित्व हो जाना ही वास्तविक स्वाधीनता है। कड़े-से-कड़े संयम-नियमोंके पालनमें भी मन-इन्द्रिय कभी विद्रोह न करें, परन्तु सुसंस्कृत और सुशिक्षित आज्ञाकारी सेवककी भाँति सुचारुरूपसे आत्माकी प्रत्येक आज्ञाका भलीभाँति अनुसरण करें, तभी मनुष्य स्वाधीन कहला सकता है। 'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य' के नामपर शास्त्रकी विधियोंका और संयम-नियमका उल्लंघन करना तो लक्ष्यभ्रष्ट होकर उलटे सर्वथा परतन्त्र बनना है। जो लोग यथेच्छाचारको स्वतन्त्रता कहते और किसी भी नियमको न मानकर मनमाने आचरणको परम पुरुषार्थ समझकर गर्व करते हैं, वे परतन्त्रताकी कठिन बेड़ीसे कभी नहीं छूट सकते। आज हिन्दूजातिमें यह दोष बहुत बड़े रूपमें आ गया है, खास करके सुशिक्षित कहलानेवाले युवक-समुदायमें। इसीसे आज हिन्दूजाति पद-पदपर तिरस्कृत और लांछित हो रही है। इसमें न वीरता है, न बुद्धिमत्ता। मौलाना अबुल कलाम आजाद साहेब काँग्रेसका सभापतित्व करते समय भी नमाजका वक्त होनेपर सारी कार्यवाही बन्द करके नमाज पढ़ने चले जाते थे। उनमें

धर्मके नियमकी पाबन्दी है, परन्तु आज सन्ध्या-वन्दनके लिये कौन हिन्दू ऐसा करता है!

खान-पानके कुछ विशेष नियम हिन्दुओंकी परम्परागत निज सम्पत्तिके रूपमें हैं। आज हिन्दू उन्हें उदारताके नामपर तिलांजलि देकर सबकी जूँठन खाने तथा अभक्ष्य भक्षण करनेके लिये ललचा रहे हैं। घरके नियम उन्हें बहुत बुरे मालूम होते हैं, परन्तु इससे क्या कभी प्रेम हो सकता है? पाण्डव-कौरव तो भाई-भाई थे। एक ही घरमें जन्मे और साथ-साथ खा-पीकर बड़े हुए थे; परन्तु दोनोंमें महान् भयंकर युद्ध हुआ। यूरोप-अमेरिकाके लोगोंमें तो साथ खाने-पीनेमें कोई भी परहेज नहीं है; फिर भी उनमें दो महायुद्ध तो हो गये और तीसरेका उद्योगपर्व चल रहा है। प्रेमका सम्बन्ध तो मनसे है। जबतक मनमें भेदज्ञान है—जबतक मन बेमेल है, तबतक बाहरी खान-पानकी एकतासे कुछ भी नहीं हो सकता।

यही बात स्पर्शके सम्बन्धमें है। हिन्दू आचारके अनुसार रजस्वला माताका भी स्पर्श नहीं किया जा सकता; परन्तु इससे माताके प्रति भक्तिमें कोई कमी थोड़े ही आती है। हिन्दू आचारमें अपने ही किसी अंग—जैसे मस्तक, कान आदिका स्पर्श करके पवित्र होना माना जाता है, तो किसी अंगका—गुदा, उपस्थ आदिका स्पर्श करके हाथ धोनेका विधान है। पर इससे क्या उन अंगोंके एक ही शरीरके विभिन्न एक-से-एक बढ़कर प्रिय अवयव होनेमें कभी कोई बाधा आती है? इसी प्रकार अन्त्यज भाई विराट् हिन्दू-शरीरके अत्यावश्यक अभिन्न अवयव हैं। अन्यान्य अंगोंकी भाँति ही परम प्रिय हैं; परन्तु उनका यह प्रेम केवल स्पर्शमें ही नहीं समाया है। आज भी अम्बेदकरी अन्त्यज भाई

महात्मा गाँधी-सरीखे अन्त्यज-प्रेमी पुरुषका विरोध करते हैं और कहा जाता है—कहीं तो उनकी कुटियातकपर उन्होंने हमला कर दिया था। असलमें प्रेम मनसे होता है और वही असली प्रेम है। बाहरके व्यवहारमें विषमता और आत्मामें समता अनिवार्य है। क्योंकि आत्मा नित्य सम और एक है तथा व्यावहारिक सृष्टिकी उत्पत्ति ही प्रकृतिके वैषम्यको लेकर हुई है।

जो लोग प्रकृतिके इस वैषम्यको मिटाकर शास्त्रके नियमोंका उल्लंघन कर स्वाधीनताके नामपर स्वेच्छाचार करना चाहते हैं, वे वास्तवमें स्वाधीनताके यथार्थ तत्त्व और महत्त्वको ही नहीं समझते।

(७१)

भजनसे जीवनकी सफलता

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। श्रीमद्भागवतमें आया है—

यः प्राप्य मानुषं देहं मोक्षद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

'जो मनुष्य मोक्षके खुले दरवाजेके समान मनुष्य-देहको पाकर भी अबोध पक्षियोंकी भाँति (स्त्री-पुत्र-परिवारादि) घरमें आसक्त हो रहे हैं, उन्हें बहुत ऊपर चढ़कर भी गिरा हुआ ही मानना चाहिये।'

गोस्वामीजीने कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

अतएव हमलोगोंको मन लगाकर दृढ़ताके और त्वराके साथ भगवत्प्राप्तिके पथपर अग्रसर होना चाहिये। मनुष्यजीवनका परम और चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ बीती जा रही हैं। जबतक शरीर स्वस्थ है तभीतक कुछ कर लीजिये। जब शरीर अस्वस्थ हो जायगा, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायँगी, मन व्याधियोंके कारण विचलित हो जायगा, उस समय भजन सहजमें नहीं हो सकेगा। अभी चेतिये और अपने जीवनका अधिक-से-अधिक समय और मन भगवान्‌के मंगलमय भजनमें ही लगाइये। तभी मानव-शरीरकी सार्थकता है—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजइ रघुबीरा॥

वही शरीर पवित्र और वही सुन्दर है जिससे श्रीभगवान् राघवेन्द्रका भजन होता है।

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥
धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। राम चरन जाकर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

सारे गुणोंकी, धर्मकी, कुलकी, विद्याकी, ज्ञानकी, नीतिकी, बुद्धिमत्ताकी, पाण्डित्यकी, चतुराईकी, विज्ञानकी और मानवताकी सफलता बस एकमात्र भजनमें ही है।

बारि मथें बरु होइ घृत सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(७२)

भोजनमें सावधानी

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। किसी भी प्राणीके साथ घृणा कभी नहीं करनी चाहिये और न आत्मदृष्टिसे उसे किसी प्रकार भी अपनेसे नीचा समझना चाहिये। बल्कि सबमें एक ही भगवान् सदा समान रूपसे विराजित हैं, यह समझकर मन-ही-मन प्राणिमात्रको प्रणाम करना चाहिये तथा यथासाध्य सबकी यथायोग्य सेवामें तत्पर रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लताएँ, नदी, समुद्र—सभी श्रीभगवान्के शरीर हैं। सभीमें भगवान्का निवास है, ऐसा समझकर जो कोई प्राणी मिले, उसे अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करें।'

यह होनेपर भी, शास्त्रमतके अनुसार, खान-पानके मामलेमें विशेष सावधानी रखना आवश्यक है। अन्नके अनुसार ही मन बनता है। अन्न सात्त्विक है या तामसिक, कैसी कमाईका अन्न है, भोजन बनानेवाला कौन है और भोजन बनाते समय उसकी चित्त-वृत्ति कैसी थी। स्थान कैसा है, पंक्तिमें साथ कौन-कौन बैठे हैं तथा भोजन परसनेवाले किस भावके कौन हैं? आदि सभी बातें विचारणीय हैं। यह प्रश्न हँसीमें उड़ा

देनेका नहीं है। आजकल जैसे खानसामा साहबके लाये हुए किसी भी पदार्थको खाने या पीनेयोग्य समझकर खा-पी लिया जाता है। न जूठनका परहेज है और न किसी और बातका। यह असलमें बहुत बड़ा प्रमाद है। अन्न जैसे पैसोंका होगा, बनानेवाले जैसे होंगे, स्थान और भोजनसामग्री जैसी होगी, वैसा ही मनपर प्रभाव पड़ेगा। वस्तु-शक्तिका प्रभाव तो होता ही है बल्कि यहाँतक होता है कि भोजन करानेवालेकी मनोभावना या इच्छाशक्तिका भी भोजन करनेवालोंपर प्रभाव पड़ता है।

एक महात्मा कुछ साधुओंके साथ गंगातटपर विचर रहे थे। उन सबने एक दिन किसी गाँवमें एक गृहस्थके यहाँ भिक्षा की। रातको सबको स्वप्नदोष हो गया। सबेरे महात्माजीने जब अपने स्वप्नदोषकी बात कही, तब सभी साधुओंने कहा कि हमको भी हुआ है। महात्माजी बड़े असमंजसमें पड़े। कोई कारण नहीं दिखायी दिया। तब वे उस गृहस्थके यहाँ गये और उससे पूछा कि 'कल तुमने हमलोगोंको भोजन कराया था, उस समय तुम्हारे मनमें क्या भाव था, सच-सच बताओ।' उसने कहा—'महाराज! और तो कुछ नहीं, मेरे मनमें यह कामना थी कि मेरे सन्तान हो जाय।' महात्माजी समझ गये कि स्वप्नदोष होना इसकी विचारशक्तिका ही परिणाम है, जिससे अन्न प्रभावित हुआ और उसका असर हमलोगोंपर पड़ा।

इसी प्रकारकी एक घटना दूसरी है—किसी एक गृहस्थके यहाँ दस-बारह अतिथि आये थे। घरमें रसोई बनानेवाली गृहस्थकी एक विधवा पुत्रवधू थी। घरकी और स्त्रियाँ कहीं गयी हुई थीं। पुत्रवधू बेचारी बीमार थी तथा रात-दिन

सतायी जाती थी। और उसे घरका सारा काम—शरीर ठीक न रहनेपर भी करना पड़ता था। घरके आदमी तो थे ही। आज दस-बारह अतिथियोंके लिये रसोई अधिक बनानी थी। उसका पेट दुःख रहा था और वह रोती हुई रसोई बना रही थी। अतिथियोंने भोजन किया और एक ही घण्टे बाद सबके पेटमें ऐसा दर्द हुआ कि सबको रोना पड़ा। घरमें पता लगा कि बहूके पेटमें पहलेसे ही बड़ा दर्द था। अब तो वह पड़ी कराह रही है। क्योंकि रसोई बनानेमें उसे लगातार घण्टों पेटकी पीड़ा सहते बैठे रहना पड़ा; कोई उपचार हुआ नहीं, इससे उसका दर्द और भी बढ़ गया।

दुर्योधनका अन्न खानेसे भीष्मपितामह-सरीखे महापुरुष धर्मका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये थे। इसीलिये अन्न-ग्रहणमें अन्नदाता, रसोइया, स्थान, अन्न, स्पर्श आदि बहुत-सी बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभु-सरीखे विश्वप्रेमी पुरुष भी इसीलिये ब्राह्मण वैष्णवके हाथका बना हुआ शुद्ध सात्त्विक भोजन—जो तुलसीजी चढ़ाकर पहले भगवान्‌के भोग लग चुका होता था—किया करते थे। उन्होंने कहा है—

प्रतिग्रह ना करिबे कभू राजधन। विषयीर अन्न खाइले दुष्ट हय मन॥
मन दुष्ट होले महे कृष्णेर स्मरण। कृष्ण-स्मृति बिनु हय निष्फल जीवन॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

'राजधनका कभी प्रतिग्रह न करना। बिषयी मनुष्यका अन्न खानेसे मन दुष्ट हो जाता है, मनके दुष्ट होनेसे श्रीकृष्णका स्मरण नहीं होता और श्रीकृष्णकी स्मृतिसे रहित जीवन निष्फल हो जाता है।'

आज जो इतनी धर्मग्लानि और पढ़े-लिखे लोगोंमें अनाचार-प्रवृत्ति देखी जाती है, इसमें अन्नदोष प्रधान कारण है। वे प्रायः हर किसीकी जूँठन हर किसीके हाथसे खाते हैं और इसीमें गौरव-बोध करते हैं। फल प्रत्यक्ष है। पर समझाये कौन! बुद्धिका निर्णय ही तो उलटा हो रहा है।

(७३)

सहभोजसे हानि

प्रिय महोदय! सप्रेम राम-राम। आपका कृपापत्र मिला। आपने मेरे पूर्वपत्रके लिये कृतज्ञता प्रकट की, इसके लिये साधुवाद! मेरे कुछ लिखनेसे आपकी कुछ भी सेवा बनी हो तो यह मेरा सौभाग्य है। वस्तुतः मेरे पास अपना निजका (Original) कुछ भी नहीं है। जो कुछ मैं लिखता हूँ, सब शास्त्रों और सन्तोंका ही जूँठन प्रसाद है।

आपने लिखा कि 'किसीके साथ खानेमें क्या दोष होता है? जब हम उसके बुरे कार्योंमें कोई साथ नहीं देते, तब उसका हमपर दोष क्यों आना चाहिये? और यह भी कौन कह सकता है कि दूसरे ही बुरे हैं, हम बुरे नहीं हैं? अपनेको बुरा न मानना और दूसरोंको बुरा बताकर उससे परहेज रखना तो सरासर अहंकार है और इस अहंकारसे क्या मनुष्यको नहीं बचना चाहिये?'

उत्तरमें यह नम्र निवेदन है कि दूसरेको बुरा मानना और अपनेको अच्छा मानना तो कदापि उचित नहीं है; बल्कि सन्तलोगोंको तो दूसरोंमें बुराई दीखती ही नहीं, वे तो सारी बुराई अपनेमें ही देखते हैं। सन्तवाणी है—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

परन्तु दूसरोंको बुरा बताकर किसीसे परहेज करना दूसरी बात है, और सरल शुद्धिकी नीयतसे खान-पान आदिमें अलग रहना दूसरी बात है। हम यह क्यों न समझें कि 'हम बुरे हैं,

इसलिये हम अपनी बुराईसे दूसरोंको बचानेके लिये उनसे अलग खाते-पीते हैं।' कोई राज्यक्ष्माका रोगी यदि घरवालोंको अपने सम्पर्कसे बचाये रखे तो वह उनमें बुराई देखकर उनसे परहेज नहीं करता, न अपनेको अच्छा ही मानता है। वह तो अपनी बुराईका संक्रमण दूसरोंमें न हो, इसीलिये उनसे अलग रहता है। अब रही बात साथ खानेमें दोष लगनेकी, सो यह अवश्य विचारणीय है। आप तो पढ़े-लिखे पुरुष हैं। विलायती दवाओंकी शीशियोंके लेबलपर आपने (Untouched by hand) 'हाथसे स्पर्श नहीं किया गया' छपा देखा होगा। ऐसा क्यों? हाथसे छूनेसे क्या हानि है? यदि हानि नहीं है तो फिर इन वैज्ञानिक डॉक्टरोंका यह बहम कैसा? वस्तुतः यह बहम नहीं है। स्पर्शकी बात तो अलग रही, पास बैठकर बातचीत करनेसे भी शारीरिक और मानसिक रोगके परमाणुओंका आदान-प्रदान होता रहता है। इसीसे सत्संग तथा सत्स्थानकी महिमा है और कुसंग तथा कुस्थलकी निन्दा की गयी है। नारदपांचरात्रमें आया है—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शाच्छयनात् सहभोजनात्।
संचरन्ति हि पापानि पुण्यं चैव तथा विशेत्॥
तस्मात् भक्तैः सहालापं कुरुते पण्डितः सदा।
यात्येवाभक्तसम्पर्काद् दुष्यत् सर्पाद् यथा नरः॥

'किसीके साथ बातचीत करनेसे, देहका स्पर्श करनेसे, एक साथ सोनेसे और साथ भोजन करनेसे एक देहके पाप दूसरे देहमें प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार पुण्यात्माके पुण्य भी एक देहसे देहान्तरमें प्रवेश करते हैं।'

'इसीसे समझदारलोग सदा भक्तोंके साथ बातचीत किया करते हैं। अभक्तके सम्पर्कसे तो वैसे ही विनाश होता है जैसे दुष्ट सर्पके संगसे मनुष्यके प्राण चले जाते हैं।'

इसीलिये हिन्दू-शास्त्रोंमें स्पर्शास्पर्शका विज्ञान है। रजस्वला माता, पत्नी और पुत्रीका भी स्पर्श नहीं किया जाता। उनमें घृणा नहीं है। है विज्ञानसम्मत विवेक, जो विविध रोग तथा अपवित्रताके संक्रमणसे परस्पर रक्षा करता है। इसीलिये हिन्दू-भोजन-विज्ञानके अनुसार पंक्ति तथा व्यक्तिके साथ भेदयुक्त व्यवहारकी सुन्दर व्यवस्था है!

आजकल तो खान-पानमें अनर्गल अनाचार चल रहा है, वह तो बुद्धिका सर्वथा नाशक है। शारीरिक रोगोंकी वृद्धि तो इससे होती ही है। पर किसको समझाया जाय? जब आप-सरीखे पुरुष ही ऐसी दलील पेश करते हैं तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है। समयकी लहर है, क्या किया जाय; परन्तु इससे परिणाम तो पलटेगा नहीं। बुरेका फल निश्चित बुरा ही होगा।

मेरी सम्मतिमें तो घृणा किसीसे नहीं करनी चाहिये। मनुष्यकी बात तो दूर रही—पशु-पक्षी और क्षुद्र कीट-पतंगसे भी नहीं। परन्तु व्यवहार करना चाहिये अपने वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य। सबके साथ खान-पान कभी नहीं करना चाहिये। अवश्य ही सहभोजमें आजकल गौरव माना जाता है; पर वस्तुतः यह पतनका चिह्न है, उत्थानका नहीं!

(७४)

सिनेमाके शौकसे सर्वनाश

आपका पत्र मिला। आपको 'सिनेमाका बहुत शौक है' तथा आप 'कलाकी दृष्टिसे अपने बच्चोंको सिनेमाके क्षेत्रमें प्रवेश कराना चाहते हैं'—लिखा सो भाई साहब! आपकी नीयत बुरी न होनेपर भी आपका बिचार मेरी समझसे हानिकारक ही है। अभी हालमें किसी तामिल पत्रके सम्पादकको किसी 'सिनेमा-स्टार' के बाबत अश्लील बातें प्रकाशित करनेके अपराधमें मद्रासके चीफ प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेटने जुर्मानेका दण्ड देते हुए कहा है—

'अश्लीलताके प्रचारमें जब सिनेमा-संस्थाके साथ अपराधीकी तुलना की जाती है, तब उसका अपराध उसकी अपेक्षा साधारण-सा प्रतीत होता है। सिनेमा वर्तमान युगका एक अभिशाप है। उसने माननीय कुलोंकी हजारों कुमारियोंको नाचनेवाली वेश्या और लड़कोंको भाँड़ बना दिया है और उन्हें लाज-शर्म तथा सम्मानके गुणोंसे रहित कर दिया है। सिनेमाका शिक्षा तथा नीति-सम्बन्धी जो कुछ भी मूल्य बतलाया जाता है, वह असलमें इसकी बीभत्सताको ढकनेके लिये है। सिनेमा चलानेवालोंको सामाजिक या नैतिक सुधारकी चिन्ता नहीं है, उनका लक्ष्य तो केवल रुपये कमाना है!'

यह सत्य है कि किसी भी ऐसी कलाका सदुपयोग किये जानेसे समाजका लाभ हो सकता है। जो काम लेख और व्याख्यानोंसे नहीं होता, वह चित्रपटोंसे हो सकता है; परन्तु वह होता तभी है, जब संचालकोंका लक्ष्य वैसा हो। आजकल जिस ढंगसे सिनेमाका प्रसार हो रहा है, उससे तो हमारे

बालक-बालिकाओंकी मनोवृत्ति बिगड़ती ही जा रही है। जो सम्भ्रान्त कुलकी हिन्दूकन्या अपना स्वरूप-सौन्दर्य दिखलाना महापाप समझती थी, जिसके लिये यह कहा गया है कि स्त्री जब अपने पतिके पास जाय तभी शृंगार करे, अन्य स्थितिमें शृंगार ही न करे। जिनके सौन्दर्यका प्रकाशन उनके शीलका अपमान माना जाता था, आज उन्हीं आर्यकन्याओंके हृदयमें अपने सौन्दर्यका सचित्र विज्ञापन करनेकी लालसा जाग उठी है और आज वे ही सिनेमा-स्टुडियो आदिमें पर-पुरुषोंके साथ मिलने-जुलने तथा तरह-तरहकी भावभंगिमाएँ दिखलाकर अपना शील खोनेमें गौरव मानने लगी हैं! यह सिनेमाओंके प्रसारका ही दुष्परिणाम है। दुःख तो यह है कि इसीको कलाके क्षेत्रमें प्रगतिके नामसे पुकारा जाता है और क्षमा कीजियेगा आप भी ऐसी ही प्रगतिके भ्रममें पड़कर ऐसी बुरी इच्छा करने लगे हैं।

इधर तो देशमें अन्नके लाले पड़ रहे हैं—लाखों लोग भूखों मर रहे हैं और उधर सिनेमाओंमें जा-जाकर अमीर-गरीब अपना बेहद धन फूँकते हैं और बदलेमें वहाँसे लेकर आते हैं—कुविचार, कुप्रवृत्ति और कुवासनाएँ। फिर उस धनका कितना दुरुपयोग होता है, कितना मांस, अण्डे, मदिरा और फैशनमें खर्च होता है—इसका हिसाब लगाया जाय तो हृदय काँपने लगता है।

साथ ही धार्मिक भावोंके नर-नारियोंको आकर्षित करनेके लिये हमारे देवी-देवताओंकी, हमारे भगवान् राम और कृष्णकी, हमारी जगज्जननी सीता और राधाकी जब छीछालेदर सिनेमाओंमें की जाती है, हमारी उन प्रातःस्मरणीया और पूजनीया देवियोंका स्वाँग धारण करके जब सिनेमाकी वे कथित कुमारियाँ

अश्लील गातीं, अर्धनग्न दशामें प्रणय-चेष्टा करती हुई दिखायी जाती हैं, तब तो धर्मभीरु हिन्दूका खून खौल उठता है। परन्तु हम सब कुछ सह रहे हैं और अपने-आपको शौकसे नरक-कुण्डमें ढकेलकर सुखका सपना देख रहे हैं। मेरी आपको जोरसे सलाह है कि आप सिनेमाका शौक छोड़ दीजिये और अपने बालक-बालिकाओंको उस घृणित क्षेत्रमें प्रवेश करानेकी कल्पनातकको पाप समझकर त्याग दीजिये। आप-जैसे अन्यान्य पिताओंसे भी मेरा यही नम्र निवेदन है।

कड़े शब्द लिखे गये हों तो कृपया क्षमा करें। मेरा हेतु अच्छा है, शब्द चाहे कड़े हों—असलमें कड़वी दवा पिये बिना जोरकी बुखार रुकती भी नहीं।

बुरे लगें हितके बचन, हिये बिचारो आप।
कड़वी भेषज बिनु पिये, मिटै न तनकी ताप॥

(७५)

हिन्दी और हिन्दोस्तानी

प्रिय महोदय! सप्रेम राम-राम। आपका कृपापत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा सो ठीक है। इस समय हिन्दुओंमें राष्ट्रीयताके मोहके कारण उर्दू-प्रेम बेहद बढ़ रहा है। हिन्दी छोड़कर उर्दू पढ़ने-पढ़ानेसे निःसन्देह ही मुसलमानी संस्कृतिका प्रभाव पड़ेगा और उससे हिन्दूजातिकी बड़ी हानि होगी। जो उर्दू पढ़ना चाहें, वे अवश्य पढ़ें, उन्हें कोई रोक नहीं सकते और रोकना चाहिये भी नहीं। परन्तु हिन्दीमें फारसीके शब्दोंको घुसेड़कर उसे हिन्दोस्तानी बनाना और नागरी तथा फारसी दोनों लिपियोंको पढ़नेके लिये बाध्य करना—यह एक प्रकारका जुल्म है। इससे एकता नहीं बढ़ेगी बल्कि भाषाके क्षेत्रमें भी साम्प्रदायिकता बढ़ जायगी और बढ़ भी रही है। परिणाम यह होगा कि मुसलमान तो हिन्दी पढ़ेगें नहीं, क्योंकि उन्हें हिन्दीकी जरूरत ही क्यों रहेगी जबकि हिन्दी ही हिन्दोस्तानीके रूपमें उर्दू बन जायगी और हिन्दू हिन्दी भूल जायँगे, फलतः उनकी संस्कृतिपर आघात होगा। पर क्या किया जाय? इस समय तो सारा काम उलटा ही हो रहा है और इसीमें अपना हित दीखता है। ऐसी हालतमें हिन्दी-प्रेमी जनताको चाहिये कि वह जबरदस्ती लादी जानेवाली हिन्दोस्तानीको स्वीकार न करे और आन्दोलन करके स्कूल-कॉलेजोंमें हिन्दोस्तानी चलानेवाले सरकारी शिक्षा-विभागको ऐसा न करनेके लिये बाध्य कर दें। फिर जिनकी इच्छा हो उर्दू पढ़ें, जिनकी इच्छा हो हिन्दी पढ़ें या दोनों पढ़ें। हिन्दी उर्दू बन जाय, उर्दू फारसी बन जाय और हिन्दी मिट जाय।

इस प्रयासको कदापि सफल नहीं होने देना चाहिये। स्कूलों-कॉलेजोंके हिन्दू विद्यार्थी मिलकर जोरकी आवाज उठावें तो इस दिशामें बहुत कुछ काम हो सकता है। विशेष भगवत्कृपा!

(७६)

शास्त्रमर्यादाके भंगसे कोई लाभ नहीं

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपको उक्त देवीजी साक्षात् भक्तिकी मूर्ति प्रतीत होती हैं और आप गुरु-माताके भावसे उनका चरणस्पर्श करना और चरणरज लेना चाहते हैं सो तो ठीक है। परन्तु जब आप उनको गुरु मानते हैं और आपकी उनमें भक्ति है, ऐसा आपका विश्वास है, तब आप उनकी आज्ञा क्यों नहीं मानेंगे? जब आपके द्वारा चरणस्पर्श करनेमें उनको अप्रसन्नता होती है और वे स्पष्टरूपसे आपको ऐसा न करनेका आदेश देती हैं, तब तो आपको उनकी आज्ञा ही माननी चाहिये। आपके मनमें श्रद्धा है तो आप मन-ही-मन उनको प्रणाम कीजिये। इससे कोई आपको नहीं रोक सकता। फिर जब वे कहती हैं कि इसमें उनके पातिव्रतधर्ममें बाधा आती है तब तो आपको बिना विचार उनकी आज्ञा मानकर चरणस्पर्श करनेकी इच्छा ही छोड़ देनी चाहिये। आपका चाहे उनके प्रति कैसा भी गुरु-भाव हो, उनके लिये आप हैं तो पर-पुरुष ही। आपके लिखनेके अनुसार यह ठीक है कि भाई अपनी बड़ी बहिनका और पुत्र अपनी माताका चरणस्पर्श कर सकता है, परन्तु वह तभी, जब कि वैसा कोई शारीरिक सम्बन्ध वास्तवमें हो। फिर वे आपसे उम्रमें भी छोटी हैं। ऐसी हालतमें मेरे खयालमें उनके विचार शास्त्रसम्मत, उचित और माननीय हैं। आपके विचार यद्यपि दूषित बिलकुल नहीं हैं, तथापि केवल भावुकतापूर्ण हैं। अतएव मेरी रायमें आपको सर्वथा उनकी राजीके अनुकूल ही बर्ताव करना चाहिये। इसीमें आपका लाभ है।

मैं तो वर्तमान समयको देखकर और शास्त्रीय मर्यादाकी दृष्टिसे भी यहाँतक कहता हूँ कि किसी बहुत बड़े महात्मा पुरुषका भी चरणस्पर्श किसी सत्-स्त्रीको नहीं करना चाहिये। भक्ति हो तो मन-ही-मन अपनी तमाम वृत्तियोंको लगाकर भी प्रणाम-नमस्कार करनेसे कौन रोकता है। भावुकतावश शास्त्रकी और लोककी आदरणीय मर्यादाका भंग करनेमें कोई लाभ नहीं है, वरं हानिकी ही सम्भावना है। मेरी समझमें गुरुकी शास्त्रविहित आज्ञा माननेमें जितना लाभ है, उतना अन्य क्रियामें नहीं है।

(७७)

भारतीय नारीका स्वरूप और उसका दायित्व

प्रिय बहिन! सस्नेह हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर लिखनेकी चेष्टा करता हूँ। यदि आपके पत्रकी सारी बातोंका आज उत्तर नहीं दिया जा सका तो कृपया क्षमा करना चाहिये। हो सका तो फिर कभी चेष्टा करूँगा।

यह सत्य है कि इस युगमें सब ओर स्वतन्त्रताकी आकांक्षा जाग्रत् हो गयी है और सभी परतन्त्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वाधीन होना चाहते हैं। फिर 'चिरकालसे परतन्त्रताकी बेड़ीमें बँधी हुई नारी अपनेको स्वतन्त्र क्यों न कर ले?' यह प्रश्न भी उचित ही है। स्वतन्त्रता निश्चय ही परम श्रेष्ठ धर्म है, और नर तथा नारी दोनोंको ही स्वतन्त्र होना भी चाहिये। बल्कि यह भी परम सत्य है कि—दोनों जबतक स्वतन्त्र नहीं होंगे, तबतक यथार्थ प्रेम होगा ही नहीं। पर विचारणीय प्रश्न तो यह है कि दोनोंके स्वतन्त्रताके क्षेत्र तथा मार्ग एक ही हैं या दो हैं? बरजोरीसे चाहे कोई इस बातको न माने; परन्तु यह है सत्य कि नर और नारीका शारीरिक और मानसिक संघटन नैसर्गिक दृष्टिसे कदापि एक-सा नहीं है। और यदि यह सत्य है तो दोनोंकी स्वतन्त्रताके क्षेत्र तथा मार्ग भी निश्चय ही दो हैं। दोनों अपने-अपने क्षेत्रमें अपने-अपने मार्गसे चलकर ही स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। यही स्वधर्म है। जबतक स्वधर्मको नहीं समझा जायगा, तबतक कल्याणकी आशा नहीं है। स्त्री घरकी रानी है, सम्राज्ञी है, घरमें उसका एकच्छत्र राज्य है, पर वह घरकी रानी है स्नेहमयी माता और आदर्श गृहिणीके रूपमें ही। यही उसका

नैसर्गिक स्वातन्त्र्य है। इसीसे कहा गया है कि 'दस शिक्षकोंसे श्रेष्ठ आचार्य हैं, सौ आचार्योंसे श्रेष्ठ पिता हैं और हजार पिताओंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, वन्दनीय और आदरणीय माता हैं।' नारीका यह सनातन मातृत्व ही उसका स्वरूप है। वह मानवताकी नित्य माता है। भगवान् राम-कृष्ण, भीष्म-युधिष्ठिर, कर्ण-अर्जुन, बुद्ध-महावीर, शंकर-रामानुज, गाँधी-मालवीय आदि जगत्के सभी बड़े-बड़े पुरुषोंको नारीने ही सृजन किया और बनाया है। उसका जीवन क्षणिक वैषयिक आनन्दके लिये नहीं, वह तो जगत्को प्रतिक्षण आनन्द प्रदान करनेवाली स्नेहमयी जननी है। उसमें प्रधानता है प्राणोंकी—हृदयकी और पुरुषमें प्रधानता है शरीरकी। इसलिये पुरुषकी स्वतन्त्रताका क्षेत्र है शरीर, और नारीकी स्वतन्त्रताका क्षेत्र है प्राण—हृदय। नारी शरीरसे चाहे दुर्बल हो, परन्तु हृदयसे वह पुरुषकी अपेक्षा सदा ही अत्यन्त सबल है। इसलिये पुरुष उतने त्यागकी कल्पना नहीं कर सकता, जितना त्याग नारी सहज ही कर सकती है। अतएव पुरुष और स्त्री सभी क्षेत्रोंमें समान भावसे स्वतन्त्र नहीं हैं।

कोई चाहे जोशमें यह न स्वीकार करे, परन्तु होशमें आनेपर तो यह मानना ही पड़ेगा कि नारी देहके क्षेत्रमें कभी पूर्णतया स्वाधीन नहीं हो सकती। प्रकृतिने उसके मन, प्राण और अवयवोंकी रचना ही ऐसी की है। वह स्वस्थ मानवशिशुको जन्म देकर, अपने हृदयके अमीरससे उसे पाल-पोसकर पूर्ण मानव बनाती है। इस नैसर्गिक दायित्वकी पूर्तिके लिये ही उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका स्वाभाविक सद्व्यय होता रहता है। जगत्के अन्यान्य क्षेत्रोंमें जो नारीका स्थान संकुचित या सीमित दीख पड़ता है, उसका कारण यही है

कि नारी बहुक्षेत्रव्यापी पुरुषका निर्माण करनेके लिये अपने एक विशिष्ट क्षेत्रमें रहकर ही प्रकारान्तरसे सारे जगत्की सेवा करती रहती है (नारी यदि अपनी इस विशिष्टताको भूल जाय तो जगत्का विनाश बहुत शीघ्र होने लगे। आज यही हो रहा है)।

स्त्रीको बाल, युवा और वृद्धावस्थामें जो स्वतन्त्र न रहनेके लिये कहा गया है, वह इसी दृष्टिसे कि उसके शरीरका नैसर्गिक संघटन ही ऐसा है कि उसे सदा एक सावधान पहरेदारकी जरूरत है। यह उसका पदगौरव है न कि पारतन्त्र्य। जिन पाश्चात्य देशोंमें नारी-स्वातन्त्र्यका अत्यधिक विस्तार है, वहाँ भी स्त्रियाँ पुरुषोंकी भाँति निर्भीकरूपसे विचरण नहीं कर पातीं। नारीमें मातृत्व है, उसे गर्भ धारण करना ही पड़ता है। प्रकृतिने पुरुषको इस दायित्वसे मुक्त रखा है और स्त्रीपर इसका भार दिया है—अतएव उसकी शारीरिक स्वाधीनता सर्वत्र सुरक्षित नहीं है। परन्तु इस दैहिक परतन्त्रतामें भी वह हृदयसे स्वाधीन है; क्योंकि तपस्या, त्याग, धैर्य, सहिष्णुता, सेवा आदि सद्गुण सत्-स्त्रीकी सेवामें सदा लगे ही रहते हैं। पुरुषमें इन गुणोंको लाना पड़ता है, सो भी पूरे नहीं आते। स्त्रीमें स्वभावसे ही इन गुणोंका विकास रहता है। इसीसे नारी देहसे परतन्त्र होते हुए भी हृदयसे स्वतन्त्र है।

स्त्री अपने इस प्राकृतिक उत्तरदायित्वसे बच नहीं सकती। जो बचना चाहती हैं, उनमें विकृतरूपसे इसका उदय होता है। विकृतरूपसे होनेवाले कार्यका परिणाम बड़ा भयानक होता है।

यूरोपमें नारी-स्वातन्त्र्य है, पर वहाँकी स्त्रियाँ क्या इस

प्राकृतिक दायित्वसे बचती हैं? क्या वासनाओंपर उनका काबू है? वे चाहें विवाह न करें या सामाजिक विघटन होनेके कारण चाहे उनके विवाह योग्य उम्रमें न होने पावें; परन्तु पुरुष-संसर्ग तो हुए बिना रहता नहीं। अभी हालमें इंगलैण्डकी पार्लियामेण्टकी साधारण सभामें एक प्रश्नके उत्तरमें मजदूर सदस्य श्रीयुत लेजने बतलाया कि '**इंगलैण्डमें २० वर्षकी आयुवाली कुमारियोंमेंसे ४० प्रतिशत विवाहके पहले ही गर्भवती पायी जाती हैं। और विवाहित स्त्रियोंकी प्रथम सन्तान-में चारमें एक अर्थात् २५ प्रतिशत नाजायज (व्यभिचारजन्य) होती है।**' आपने यह भी कहा है कि 'देशका ऐसा नैतिक पतन कभी देखनेमें नहीं आया।' कहते हैं कि अमेरिकाकी स्थिति इससे भी कहीं भयानक है। क्या ऐसा स्त्री-स्वातन्त्र्य भारतीय स्त्री कभी सहन कर सकती है?

आपने लिखा कि ''पाश्चात्य देशोंमें स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताके तथा शिक्षाके कारण बड़ी उन्नति हुई है।' मेरी धारणामें यह कथन भ्रमपूर्ण है। उन्नतिका एक उदाहरण तो ऊपर बतलाया जा चुका है। इसके सिवा यदि ध्यान देकर देखा जाय तो पता लगेगा कि वहाँका पारिवारिक जीवन प्रायः नष्ट हो गया है। सम्मिलित कुटुम्ब—जो दया, प्रेम, स्नेह, परोपकार, जीव-सेवा, संयम और शुद्ध अर्थ-वितरणकी एक महान् संस्था है, जिसमें दादा-दादी, ताऊ-ताई, चाचा-चाची, भाई-भौजाई, देवर-जेठ, सास-पतोहू, मामा-मामी, बुआ-बहिन, मौसी-मौसे, भानजे-भानजी, भतीजे-भतीजी आदिका एक महान् सुशृंखल कुटुम्ब है और जिसके भरण-पोषण तथा पालनमें गृहस्थ अपनेको धन्य और कृतार्थ समझता है—का तो वहाँ नामोनिशान भी नहीं मिलेगा। स्वतन्त्रता तथा समानाधिकारके युद्धने वहाँके

सुन्दर घरको मिटा दिया है। इसीसे वहाँ जरा-जरा-सी बातमें कलह, अशान्ति, विवाह-विच्छेद या आत्महत्या हो जाती है। वहाँ स्त्री अब घरकी रानी नहीं है, घरमें उसका शासन नहीं चलता, गृहस्थ-जीवनका परम शोभनीय आदर्श उसकी कल्पनासे बाहरकी वस्तु हो गया है। घरको सुशोभित करनेवाली श्रेष्ठ गृहिणी पतिके प्रत्येक कार्यमें हृदयसे सहयोग देनेवाली सहधर्मिणी और बच्चोंको हृदयका अमीरस पिलाकर पालनेवाली माताका आदर्श वहाँ नष्ट हुआ जा रहा है। 'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य' और 'स्वतन्त्र प्रेम' के मोहमें वहाँकी नारी आज इतनी अधिक पराधीन हो गयी है कि उसे दर-दर भटककर विभिन्न पुरुषोंकी ठोकरें खानी पड़ती हैं! जगह-जगह प्रेम बेचना पड़ता है। नौकरीके लिये नये-नये मालिकोंके दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं और no vacancy की सूचना पढ़कर निराश लौटना पड़ता है। यह कैसी स्वतन्त्रता है और कैसा सुख है?

आप कहती हैं कि 'वहाँकी शिक्षिता स्त्रियोंमें बहुमुखी विकास हुआ है।' यह सत्य है कि वहाँ अक्षर-ज्ञानका पर्याप्त विस्तार है। परन्तु अक्षर-ज्ञानसे ही कोई सुशिक्षित और विकसित हो जाय, ऐसा नहीं माना जा सकता। वास्तवमें शिक्षा वह है जो मनुष्यमें उसके स्वधर्मानुकूल कर्तव्यको जाग्रत् करके उसे उस कर्तव्यका पूरा पालन करनेयोग्य बना दे। यूरोपकी स्त्री-शिक्षाने यह काम नहीं किया। स्त्रियोंका उनके नैसर्गिक धर्मके अनुकूल शिक्षा मिलती तो बहुत बड़ा लाभ होता। प्रकृतिके विरुद्ध शिक्षासे इसी प्रकार बड़ी हानि हुई है। इस युगमें स्त्रियोंको जो शिक्षा दी जाती है, क्या उससे सचमुच उनका स्वधर्मोचित विकास हुआ है? क्या इस

शिक्षासे स्त्रियाँ अपने कार्यक्षेत्रमें कुशल बन सकी हैं? क्या अपने क्षेत्रमें, जो उनकी नैसर्गिक स्वतन्त्रता थी, उसकी पूरी रक्षा हुई है? उसका अपहरण तो नहीं हो गया है? सच पूछिये तो सैकड़ों वर्षोंसे चली आती हुई यूरोपकी शिक्षाने वहाँ कितनी महान् प्रतिभाशालिनी स्वधर्मपरायणा जगत्‌की नैसर्गिक रक्षा करनेवाली महिलाओंको उत्पन्न किया है? बल्कि यह प्रत्यक्ष है कि इस शिक्षासे वहाँ नारियोंमेंसे गृहिणीत्व तथा मातृत्वका ह्रास हुआ है। अमेरिकामें ७७ प्रतिशत स्त्रियाँ घरके कामोंमें असफल साबित हुई हैं। ६० प्रतिशत स्त्रियोंने विवाहोचित उम्र बीत जानेके कारण विवाहकी योग्यता खो दी हैं। विवाहकी उम्र वहाँ साधारणतः १६ से २० वर्षतककी ही मानी जाती है। इसके बाद ज्यों-ज्यों उम्र बड़ी होती है त्यों-ही-त्यों विवाहकी योग्यता घटती जाती है। इसका परिणाम यह है कि वहाँ स्वेच्छाचार, अनाचार, व्यभिचार और अत्याचार बढ़ गया है। अविवाहित माताओंकी संख्या क्रमशः बढ़ी जा रही है। घरका सुख किसीको नहीं। बीमारी तथा बुढ़ापेमें कौन किसकी सेवा करे? वहाँकी शिक्षित स्त्रियोंमें लगभग ५० प्रतिशतको कुँआरी रहना पड़ता है और बिना ब्याहे ही उन्हें वैधव्यका-सा दुःख भोगना पड़ता है। यही क्या बहुमुखी विकास है?

इसके सिवा वर्तमान शिक्षाका एक बड़ा दोष यह है कि स्त्रियोंमें 'नारीत्व' और 'मातृत्व' का नाश होकर उनमें 'पुरुषत्व' बढ़ रहा है और उधर पुरुषोंमें 'स्त्रीत्व' की वृद्धि हो रही है। नारी नियमित व्यायाम करके और भाँति-भाँतिके अन्यान्य साधनोंके द्वारा 'मर्दाना' बनती जा रही है, तो पुरुष अंग-लालित्य, भावभंगिमा, केशविन्यास और स्वरमाधुर्य आदिके

द्वारा 'जनाना' बने जा रहे हैं। स्त्रियोंमें मर्दानगी आनी चाहिये। उन्हें 'रणचण्डी' और 'दशप्रहरणधारिणी' दुर्गा बननी चाहिये; परन्तु बननी चाहिये पति-पुत्रका अहित करनेकी इच्छा रखनेवाले आततायीको दण्ड देनेके लिये। यह तभी होगा जब उनमें 'पत्नीत्व' और 'मातृत्व' अक्षुण्ण स्थिर रहेगा। भारतवर्षने तो नारीका रणरंगिणी मुण्डमालिनी कराली कालीके रूपमें और सिंहवाहिनी महिषमर्दिनी दुर्गाके रूपमें पूजन किया है। परन्तु वहाँ भी वह है 'माँ' ही। स्नेहमयी माता, प्रेममयी पत्नी यदि वीरांगना बनकर, रणसज्जासे सुसज्जित होकर मैदानमें आवेगी तो वह आततायियोंके हाथसे अपनी तथा अपने पति-पुत्रकी रक्षा करके समाज और देशका अपरिमित मंगल और मुख उज्ज्वल करेगी। परन्तु इस हृदय-धनको खोकर प्राणकी इस परम सम्पत्तिको गँवाकर केवल देहके क्षेत्रमें स्वतन्त्र होनेके लिये यदि नारी तलवार हाथमें लेगी तो निश्चय समझिये उस तलवारसे प्यारी सन्तानके ही सिर धड़से अलग होंगे, प्राणप्रियतम पतियोंके ही हृदय बेधे जायँगे और सबके मुखोंपर कालिमा लगेगी। स्त्रियोंको रणरंगिणी बननेसे पहले इस बातको अच्छी तरह सोच रखना चाहिये। अत्याचार, अनाचारीका दमन करनेके लिये हमारी माँ-बहिनें रणचण्डी बनें, परन्तु हमारी रक्षा और हमारे पालनके लिये उनके वक्षःस्थलसे सदा अमीरस बहता रहे। वहाँ तलवार हाथमें रहे ही नहीं।

अतएव इस भ्रमको छोड़ देना चाहिये कि वर्तमान यूरोप-अमेरिकामें स्त्रियाँ स्वतन्त्र होनेसे सुखी हैं और उन्हें वर्तमान शिक्षासे लाभ हुआ है। फिर यदि मान भी लें कि किसी अंशमें हुआ भी हो तो वहाँका वातावरण, वहाँकी परिस्थिति,

वहाँके रस्मोरिवाज, वहाँकी संस्कृति और वहाँका लक्ष्य दूसरा है और हमारा बिलकुल दूसरा। वहाँ केवल भौतिक उन्नति ही जीवनका लक्ष्य है, हमारा लक्ष्य है परमात्माकी प्राप्ति।

परमात्माकी प्राप्तिमें सर्वोत्तम साधन है विलास-वासनाका त्याग और इन्द्रिय-संयम। इसका खयाल रखकर ही हमें अपनी शिक्षापद्धति बनानी होगी। तभी हमारी नारियाँ आदर्श माता और आदर्श गृहिणी बनकर जगत्‌का मंगल कर सकेंगी।

कहा जा सकता है कि फिर क्या स्त्रियाँ देशका, समाजका कोई काम करें ही नहीं? ऐसी बात नहीं है, करें क्यों नहीं। करें, पर करें अपने स्वधर्मको बचाकर। अपने स्वधर्मकी जितनी भी शिक्षा अशिक्षित बहिनोंको दी जा सके, उतनी अपने आदर्श आचरणों और उपदेशोंके द्वारा वे अवश्य दें। सच्ची बात तो यह है कि यदि पति, पुत्र, पुत्रियाँ सब ठीक रहें, अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें ईमानदारीसे संलग्न रहें तो फिर समाजमें—देशमें ऐसी बुराई ही कौन-सी रह जाय, जिसे सुधारनेके लिये माताओंको घरसे बाहर निकलकर कुछ करना पड़े? और पुरुषोंको सत्पुरुष बनानेका यह काम है—माताओंका। माताएँ यदि अपने स्वधर्ममें तत्पर रहें तो पुरुषोंमें उच्छृंखलता आवे ही नहीं। अतएव मेरी तो भारतकी आदरणीया देवियोंसे हाथ जोड़कर विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने स्वरूपको सँभालें, अपने दायित्वकी ओर ध्यान दें और पुरुषोंको वास्तविक स्वधर्मपरायण पुरुष बनावें। पुरुषोंकी प्रतिभाका वैसा ही निर्माण होगा, जैसा सर्वशक्तिमयी माताएँ करना चाहेंगी। आज जो पुरुष बिगड़े हैं, इसका उत्तरदायित्व माताओंपर ही है। वे ही उन्हें बना सकती हैं। यदि माताएँ पुरुषोंकी परवा न करके—अपने पति-पुत्रोंकी कल्याण-कामना न करके

अपनी स्वतन्त्र व्यक्तिगत कल्याण-कामना करने लगेंगी तो पुरुषोंका पतन अवश्यम्भावी है। और जब पति-पुत्र बिगड़ गये तो फिर गृहिणी और माता भी किसके बलपर अपने सुन्दर स्वरूपकी रक्षा कर सकेंगी? पुरुषोंको बचाकर अपनेको बचाना—पुरुषोंको पुरुष बनाकर अपने 'नारीत्व' का अभ्युदय करना—इसीमें सच्चा कल्याणकारी नारी-उद्धार है। पुरुषोंको बेलगाम छोड़कर, नारीका उसकी प्रतिद्वन्द्वी होकर अपनी स्वतन्त्र उन्नति करने जाना तो पुरुषको निरंकुश, अत्याचारी, स्वेच्छाचारी बनाकर उसकी गुलामीको ही निमन्त्रण देना है। और फलतः समाजमें दुःखका ऐसा भयानक दावानल धधकाना है, जिसमें पुरुष और स्त्री दोनोंके ही सुख जलकर खाक हो जायँगे! शेष भगवत्कृपा।

(७८)

विवाह-विच्छेद (तलाक)

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप हिन्दू-विवाह-सम्बन्धी नये-नये, खास करके विवाह-विच्छेद (तलाक) कानूनके बनाये जानेके प्रयत्नसे बहुत दुःखी हैं। सो उचित ही है। प्राचीन भारतीय संस्कृतिको समझनेवाले सभी नर-नारी इससे दुःखी हैं। आपने 'इस प्रकारके कानून बनानेका प्रयत्न लोग क्यों कर रहे हैं, तलाकमें क्या-क्या बुराइयाँ हैं तथा इस समय हमलोगोंका क्या कर्तव्य है' पूछा और विस्तारपूर्वक समझाकर लिखनेका अनुरोध किया, इसके लिये धन्यवाद। अपनी तुच्छ समझके अनुसार कुछ लिख रहा हूँ, इसपर विचार करके आप तथा आप-सरीखी अन्यान्य बहिनें और समस्त पाठक महोदय भी अपना कर्तव्य निश्चित कर सकते हैं।

आप पढ़ी-लिखी हैं, कॉलेजमें शिक्षा प्राप्त कर चुकी हैं तथा वर्तमान जगत्के वातावरणसे परिचित हैं; इतना होनेपर भी आपमें स्वधर्मकी इतनी निष्ठा है, भारतीय नारीके शील-स्वभावके प्रति इतना सम्मान है—यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

असलमें जो सज्जन इस समय हिन्दू-विवाह-सम्बन्धी नये कानून बनाना चाहते हैं, उनकी नीयतपर सन्देह करना अपराध है। जहाँतक मेरा अपना अनुमान है और उन सज्जनोंके सम्बन्धमें मुझे जो ज्ञान प्राप्त है, उसके आधारपर मैं यह कह सकता हूँ कि वे सज्जन सचमुच भारतीय स्त्री-जातिकी कल्याण-कामनासे ही इस प्रकारका प्रयत्न कर रहे हैं। उनके सामने ऐसे प्रसंग आये और आते रहते हैं, जिनके कारण उनके मनमें यह बात धँस गयी है कि कानूनमें परिवर्तन हुए

बिना हिन्दू-स्त्रियोंपर जो सामाजिक अत्याचार होते हैं, उनका अन्त नहीं होगा। इस विचारके सज्जन यह कहते हैं और उनके दृष्टिकोणसे उनका ऐसा कहना ठीक भी है कि 'आदर्शवाद ऊँची चीज है। परन्तु उसका प्रयोग इस युगमें सम्भव नहीं है, फिर आदर्शवादका प्रयोग केवल नारी-जातिके लिये ही क्यों हो, पुरुषोंके प्रति क्यों न हो। पुरुष चाहे जैसा, चाहे जितना अनाचार, स्वेच्छाचार, व्यभिचार और अत्याचार करे, कोई आपत्ति नहीं; वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। परन्तु सारे नियम, सारे बन्धन तो स्त्रीके लिये हों, यह नहीं चल सकता। ऊँचे आदर्शकी चिल्लाहट मचानेसे काम नहीं चलेगा। इस प्रकार चिल्लाहट मचानेवालोंमें कितने ऐसे हैं, जो स्वयं आदर्शकी रक्षा करते हैं। फिर इस युगमें पुराने आदर्शके अनुसार चलना भी सम्भव नहीं है; युगधर्मके अनुसार परिवर्तन करना ही पड़ेगा। पुरानी लकीरको पकड़े रहना तो पागलपन है,' आदि।

सचमुच पुरुषोंके द्वारा कहीं-कहीं अपनी स्त्रियोंके प्रति तथा विधवा बहिनोंके प्रति ऐसे-ऐसे अमानुषिक अत्याचार होते हैं, जिनको देख-सुनकर सहृदय पुरुषका मन प्राचीन प्रथाके प्रति विद्रोह कर उठता है और वह स्वाभाविक ही हर उपायसे ऐसे अत्याचारोंको रोकनेका प्रयास करता है (एक तो यह कारण है)।

परन्तु इस प्रकार सुधारकी सच्ची इच्छा होनेपर भी वे सज्जन यह नहीं विचारते कि इस समय यदि कुछ लोग झूठ बोलने लगे हैं, सत्यपर आरूढ़ नहीं रहते और वे कहते हैं—झूठ बोलनेमें बहुत-सी सुविधा सहज ही प्राप्त की जा सकती है, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि झूठ ही

बोलना चाहिये, सत्यको छोड़ देना चाहिये। बल्कि यह कहना संगत होता है कि सत्यभाषणमें और सत्यके पालनमें युगके प्रभावसे या हमारी कमजोरीसे जो अड़चनें पैदा हो गयी हैं, उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। असलमें यही सच्चा सुधार है। कुछ लोग आदर्शकी रक्षा नहीं करते, इसलिये आदर्शके त्यागका आदेश न देकर, आदर्शके सर्वांगीण त्यागके लिये चेष्टा न करके, जो लोग आदर्शकी रक्षा नहीं कर सकते, उनके लिये उसकी रक्षा कर सकनेयोग्य मनोवृत्ति और परिस्थिति उत्पन्न कर देना तथा तमाम अड़चनोंको मिटा देना—यही कर्तव्य है। परन्तु ऐसा न करके—एक आँख फूट गयी है तो दूसरी भी फोड़ दो, इसके अनुसार 'कुछ लोग आदर्शकी रक्षा नहीं कर रहे हैं, इसलिये जो कर रहे हैं, उनके लिये भी आदर्श मत रहने दो'—यह कहना वस्तुतः प्रमाद है; तथापि ऐसा कहा जा रहा है। इसका कारण किसीकी नीयतका दोष नहीं। इसमें प्रधान कारण है—आधुनिक सभ्यताका प्रभाव और विजातीय आदर्शको लेकर निर्माण की हुई वर्तमान शिक्षा। इसीका यह परिणाम हुआ है कि हमारी अपनी संस्कृतिके प्रति—अपनी प्राचीन प्रथाओंके प्रति हमारी दोषबुद्धि दृढमूल हो गयी है। इसीसे हिन्दुस्थानका सच्चे हृदयसे कल्याण चाहनेवाले उच्च स्थितिके बड़े पुरुष भी इस विचारधाराके कारण बात-बातमें विदेशी संस्कृतिकी प्रशंसा करते हैं और अपनीकी निन्दा। सचमुच आज अपनी सभ्यतामें हमारी अश्रद्धा और अनास्था तथा पश्चिमीय सभ्यतामें हमारी आस्था और श्रद्धा इतनी बढ़ गयी है कि हम आज वहाँके दोषोंको भी गुण समझकर ग्रहण करनेके लिये आतुर हैं! हमें अपने-आपपर इतनी घृणा हो

गयी है कि हमारी प्रत्येक प्राचीन प्रथामें हमें तीव्र दुर्गन्ध आने लगी है, हम उससे नाक-भौं सिकोड़ने लगे हैं; और इधर हमारी मानसिक गुलामी इतनी बढ़ गयी है कि हम, दूसरे लोग जिसको अपना दोष मानकर उससे मुक्त होनेके लिये छटपटा रहे हैं, उसीको गुण मानकर उसे आलिंगन करनेके लिये लालायित हैं! इसीसे आजका प्रगतिशील भारतीय तरुण परदेशी सभ्यताकी निन्दा करता हुआ भी परपदानुगामी, परानुकरणपरायण, परभावापन्न और पर-मस्तिष्कके सामने नतमस्तक होकर उन्नति और विकासके नामपर अपनेको महान् विनाशकारी आगमें झोंक रहा है!

पाश्चात्य जगत्के मनीषीगण समाजका अधःपतन होते देखकर जिन चीजोंको समाजसे निकालना चाहते हैं, शिक्षित प्रगतिमान् भारतीय उन्हींको ग्रहण करनेके लिये व्याकुल हैं। हालमें ही ईसाई जगत्के धर्माचार्य रोमके पोपने कहा है— 'यूरोपमें तलाककी संख्या बहुत जोरोंसे बढ़ रही है। विद्यार्थियोंका ईश्वरमें विश्वास घट रहा है और अश्लील नाटकोंका प्रचार बढ़ रहा है। यह बहुत बुरी बात है।' सुधारवादियोंके नक्कारखानेके सामने बेचारे पोपकी यह तूतीकी क्षीण आवाज किसीके कानमें क्यों जाने लगी।

विवाह-विच्छेद (तलाक)-की आलोचना करते हुए विदुषी अंग्रेज महिला श्रीमती एम० मैकिन्टश एम० ए०ने लिखा है—

"सभी युगोंमें नर-नारियोंके जीवनके दो प्रधान अवलम्बन रहे हैं—एक 'विवाह' और दूसरा 'घर'। वर्तमान युगमें ये दोनों ही अवलम्बन डाईवोर्स (तलाक) नामक अमंगल-जनक प्रेतके प्रभावसे तमसाच्छन्न हो गये हैं। इस प्रेतने नर-नारियोंके हृदयोंको भयसे भर दिया है। तलाकसे समाजका

सर्वनाश होता है और यह समाजहितके सर्वथा प्रतिकूल है, इस बातको अनेकों युक्तियोंसे सिद्ध किया जा सकता है। इसमें एक युक्ति यह है कि तलाकसे घर टूट जाता है और परिवार नष्ट हो जाता है। विवाहका प्रधान उद्देश्य है—सन्तानोत्पादन। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये पारिवारिक बन्धनकी आवश्यकता है। यदि पति-पत्नी मृत्युकालतक एक-दूसरेके प्रति पूरा विश्वास रखकर दाम्पत्य-बन्धनको सुदृढ़ न बनाये रखें तो उपर्युक्त उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

''आजकल स्वतन्त्र प्रेम (Free Love)-की नयी रीति चली है। इसके अनुसार आधुनिक नर-नारी विवाह-बन्धनको शिथिल करके कामज-प्रेमके स्वाभाविक अधिकारकी निर्बाध स्थापना करना चाहते हैं। इस नयी व्यवस्थाके परिणाम-स्वरूप मनुष्यकी वंशवृद्धि तो चलेगी, परन्तु चलेगी बिलकुल स्वतन्त्र पद्धतिसे। पितृत्व और मातृत्वकी धारणा लुप्त हो जायगी और बच्चोंका दल कीट-पतंगोंकी तरह पलेगा। सब समान हो जायँगे। उनमें रहेगा न व्यक्तित्व और न रहेगी किसी उद्देश्यकी विशिष्टता ही।........'

डॉक्टर डेनेवल महोदयने लिखा था—

'.....हमारी समझमें विवाहसे तात्पर्य है दायित्वका वहन या बन्धन। इसमें दायित्वशून्यता या निर्बाध स्वतन्त्रताका कोई भी संकेत हम नहीं पाते। बन्द घर निरापद और शान्तिमय होता है। दरवाजा खुला रहनेपर उसमें चोर-डकैत आ सकते हैं और भी तरह-तरहके उत्पात-उपद्रव आकर घरकी शान्तिको भंग कर सकते हैं। यही बन्धनका सुख है। जिस घरका दरवाजा चौपट है, वह घर नहीं है, वह तो सराय है।

'विवाहके साथ ही यदि विवाह-विच्छेदका खुला द्वार

छोड़ दिया जाय तो स्त्री-पुरुष दोनोंकी कोई विशिष्टता नहीं रह सकेगी। फिर तो विवाह और विच्छेद तथा नित्य नयी-नयी जोड़ीका निर्माण—यह तमाशा चलता रहेगा।.......'

'पाश्चात्य समाजमें विवाह एक प्रकारका शर्तनामा(Contract) होनेपर भी उसमें यह स्पष्ट निर्देश रहता है कि यह सम्बन्ध मृत्युकालतकके लिये है—till death us do Part। यदि आरम्भसे ही पति-पत्नीके मनोंमें यह धारणा जाग्रत् रहेगी कि जब चाहें तभी यह मिलन टूट सकता है, तब फिर देह-मनको शुद्ध रखना बहुत कठिन होगा। फिर प्रेम-स्नेहकी दुहाई कोई नहीं मानेगा और फिर कौन किसके बच्चे-बच्चियोंको पालेगा।.....विवाह-विच्छेदकी बातके साथ ही पुनर्विवाहकी बात भी चित्तमें आ ही जाती है। इस पुनर्विवाहकी, चाहे जिसको देहसमर्पणकी कल्पनासे यदि सुसंस्कृत (Cultured) मनमें विद्रोह नहीं पैदा होगा तो फिर मनकी इस संस्कृतिका गौरव ही क्या है। फिर तो विवाह एक कानून-सम्मत रखेली रखनेका रूप (Legalized form of concubinage) होगा।'

प्रेम और काममें बड़ा अन्तर है। प्रेममें त्याग है, उत्सर्ग है, बलिदान है। मनुष्यजीवनकी पूर्ण परिणति प्रेमसे ही होती है। प्रेम त्यागस्वरूप है, उत्सर्गपरायण है। काम विषयलुब्ध है, भोगपरायण है। जहाँ केवल निजेन्द्रिय-सुखकी इच्छा है—वहाँ काम है चाहे उसका नाम प्रेम हो। वस्तुतः उसमें प्रेमको स्थान नहीं है। पशुमें प्रेम नहीं होता, इसीसे उनका दाम्पत्य क्षणिक भोगलालसाकी पूर्तिमें ही समाप्त हो जाता है। इसीसे कामको 'पाशविक वृत्ति' कहा जाता है। मनुष्यमें प्रेम है, इसलिये उसमें क्षणिक लालसापूर्ति नहीं है। वह नित्य है—

शाश्वत है। विवाह उत्सर्ग और प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप है। इसीसे विवाहबन्धन भी नित्य और अच्छेद्य है। जहाँ विवाह-विच्छेदकी बात है, वहाँ तो मनुष्यके पशुत्वकी सूचना है। विवाहमें जहाँ विच्छेदकी सम्भावना आ जाती है, वहीं नर-नारीका पवित्र और मधुर सम्बन्ध अत्यन्त जघन्य हो जाता है। फिर मनुष्य और पशुमें कोई भेद नहीं रह जाता। विवाह-विच्छेदकी प्रथा चलाना मानवताको मारकर उसे कुत्ते-कुतियाके रूपमें परिणत करना है।

हिन्दू-विवाह दूसरी जातियोंकी भाँति कोई शर्तनामा नहीं है, पवित्र धर्म-संस्कार है। त्यागके द्वारा प्रेमकी पवित्रताका संरक्षण करना और प्रेमको उत्तरोत्तर उच्च स्थितिपर ले जाना—विवाहका महान् उद्देश्य है। प्रेम, स्नेह, प्रीति, अनुराग, मैत्री, करुणा, मुदिता आदि पवित्र और मधुर भाव मनुष्यजीवनकी परम लोभनीय सम्पत्ति है। इस परम सम्पत्तिकी रक्षा होती है त्याग, क्षमा, सहनशीलता, धैर्य और सेवा आदि सद्वृत्तियोंके द्वारा—और इन्हींसे इन भावोंकी वृद्धि भी होती है।

हिन्दू-विवाह-संस्कारमें पति-पत्नीकी यह निश्चित धारणा होती है कि हमारा यह सम्बन्ध सर्वथा अविच्छिन्न है। जन्म-जन्मान्तरमें भी यह नहीं टूट सकता। ऐसी ही प्रार्थना और कामना भी की जाती है। इसलिये कभी किसी कारणवश यदि किसी बातपर परस्पर मतभेद हो जाता है अथवा आपसमें झगड़ा भी हो जाता है तो वह बहुत समयतक टिकता नहीं। त्याग, क्षमा, सहिष्णुता, धैर्य आदि वृत्तियाँ दोनोंके मनोंको शीघ्र ही सुधारकर कलह शान्त करा देती हैं; अतएव प्रेम अक्षुण्ण बना रहता है। जीवनमें दुःखके दिन अधिक काल स्थायी नहीं होते; क्योंकि पति-पत्नी दोनोंको

ही परस्पर एक-दूसरेसे मेल करनेकी इच्छा हो जाती है। हम दोनों जीवनभरके संगी हैं, यह धारणा अत्यन्त दृढ़ होनेके कारण पारस्परिक विश्वास और प्रेम केन्द्रीभूत हो जाता है और किसी प्रकार किसी कारणवश सामान्य उत्तेजना, जोश, क्रोध या अविश्वासके उदय होनेपर सहसा ऐसा कोई कार्य प्राय: नहीं होता, जिससे सम्बन्ध टूट जाय।

उत्तेजना, जोश या क्रोध आदिका कार्य यदि उसी समय नहीं हो जाता, बीचमें कुछ समय मिल जाता है, तो फिर उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। जितनी ही देर होती है, उतना ही उनका आवेग घटता है। कुछ समय बाद तो वे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। परन्तु यदि विच्छेदका दरवाजा खुला हो तो, जहाँ जोश आया, और जोशके जोरसे होश गया कि वहीं सम्बन्ध टूट गया—तलाक कर दिया गया! इसीसे अमेरिका-जैसे देशोंमें प्रतिवर्ष लगभग ७८ लाख तलाकके मामले होते हैं और उत्तरोत्तर इनकी संख्या बढ़ रही है। रूसमें तो आज विवाह, कल तलाक—यही खेल चल रहा है। हमारे यहाँ विवाह-बन्धनके कारण स्त्री-पुरुष पारिवारिक जीवनमें इतने बँध जाते हैं कि कभी सामयिक उत्तेजनाके कारण अलग होनेकी इच्छा भी होती है तो वैसा सहजमें हो नहीं पाता। इससे परिवारका संघटन टूटता नहीं।

साथ ही, जब विवाह होते ही दोनोंको यह निश्चय हो जाता है कि यह मेरा पति है और यह मेरी पत्नी है, हमारा यह प्रेमका पवित्र सम्बन्ध नित्य और अटूट है। तब दोनोंके मन केन्द्रीभूत हो जाते हैं। इसलिये उनके मनोंके लिये अन्य किसी ओर जानेकी सम्भावना नहीं रहती। चाहे कोई कितना ही सुन्दर रूप या आकर्षक गुणसम्पन्न व्यक्ति हो, अपनेको

उससे क्या काम। यह दृढ़ भावना रहती है। ऐसी अवस्थामें नर-नारीके अबाध मिलनकी बात तो दूर रही; पर-स्त्री या पर-पुरुषके चिन्तनको, उन्हें कामलोलुप दृष्टिसे एक बार मात्र देखनेको भी महान् पाप माना जाता है और प्रायः भले नर-नारी इस पापसे बचनेका प्रयत्न करते रहते हैं। पाश्चात्य देशोंमें ऐसी बात नहीं है। वहाँ व्यभिचारकी संज्ञा बहुत संकुचित है। नर-नारीके शारीरिक मिलनको वे स्वाधीनता मानते हैं, व्यभिचार नहीं; इसीसे इस स्वाधीनताका उपभोग करनेके लिये वे लालायित रहते हैं। इसीका नाम उनके यहाँ 'स्वतन्त्र प्रेम' (Free Love) है। विवाह-बन्धनसे इस पापमें स्वाभाविक ही रुकावट होती है और विवाह-विच्छेद (तलाक)-से इस पापको प्रोत्साहन प्राप्त होता है। अतएव तलाकका कानून बन जानेपर अन्य कारण न होनेपर भी, बहुत-से विवाह-विच्छेदके मामले तो केवल इसी निमित्तसे होने लगेंगे।

विवाहित स्त्री-पुरुषके पारस्परिक व्यवहारके सम्बन्धमें आलोचना करती हुई श्रीमती रॉबिन्सन् कहती हैं—'हिस्सेदारीके कारबारमें जैसे हिस्सेदारों (Partners)-को एक-दूसरेको मानकर चलना पड़ता है—मौज या मनमानी करनेसे कारबार नहीं चलता, वैसे ही पति-पत्नीकी हिस्सेदारीमें घरका भी नियम है। दोनों एक-दूसरेसे मिलकर, सलाह करके काम करेंगे तो घरका व्यापार सुचारुरूपसे चलेगा। यही विवाहका मुख्य उद्देश्य है; क्योंकि इस सहयोगितापर ही दोनोंकी सुख-शान्ति अवलम्बित है। एक-दूसरेके दोष या भूलोंको क्षमाकी आँखोंसे देखकर चलनेसे ही हिस्सेदारी निभती है, नहीं तो उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इस सहयोगिताको जिस पवित्र वृत्तिसे पोषण मिलता है, उसीका नाम है—प्रेम, प्रीति या अनुराग और

प्यारकी इस वृत्तिका नाम ही प्रतिभा है। मनमानी तृप्ति या स्वेच्छाचारके सुखको जीवनका उद्देश्य बना लेनेपर तो परिणाममें क्षोभ और पश्चात्ताप ही प्राप्त होगा। अतएव पति-पत्नीको परस्पर एक-दूसरेकी सहकर चलना चाहिये। स्वतन्त्रता या स्वेच्छाचारको सिर नहीं चढ़ाना चाहिये।

इस सहयोगिताके भावोंकी रक्षा जिस प्रेमसे होती है, विवाह-विच्छेदका मार्ग खुला रहनेपर विवाहमें उस प्रेमकी उत्पत्ति ही रुक जायगी। फिर सहयोगिता कहाँसे होगी और सहयोगिता न होनेपर तलाककी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ेगी ही। यूरोपमें यही हो रहा है, और इसीसे वहाँका समाज आज अशान्ति और अनाचारका घर बना हुआ है।

विवाह-विच्छेद होने तथा स्त्रीका दूसरे पुरुषसे और पुरुषका दूसरी स्त्रीसे विवाह होनेपर पहलेके बच्चे अनाथ हो जायँगे। स्त्रियोंमें मातृत्वकी जो महान् वृत्ति है और पितामें पितृत्वका जो पवित्र भाव है, वह क्रमशः नष्ट हो जायगा। फिर बच्चोंका पोषण या तो रूसकी भाँति राज्य करेगा या उनकी दुर्दशा होगी!

अमेरिकाके भूतपूर्व प्रेसीडेण्ट रुजवेल्ट महोदयने अपनी जीवन-स्मृतिमें कहा है—'मेरी उम्र उस समय दस वर्षकी थी, मैं बीमार था। बिछौनेपर पड़ा हुआ पुस्तककी तसवीर देखा करता। बगलमें बैठी हुई माँ मुझे तसवीरोंका भाव समझाया करतीं। मुझे बड़ा अच्छा लगता। नींद नहीं आती तो मेरी मैया मेरे मुँहमें मुँह देकर मुझे सान्त्वना देतीं। पिता और माता दोनों ही मुझे लेकर व्यस्त रहते। कितनी कहानियाँ कहते। कहानियाँ—वह माता-पिताका स्नेह। उस स्नेहने ही मेरे सारे कष्टोंको मिटा दिया। यदि ऐसा न होता, यदि मुझ

बीमारको बिछौनेपर फेंक दिया जाता और दो-तीन नर्सोंको मेरा भार देकर मेरे माँ-बाप बाहर चले गये होते—पार्टीमें, नाटकमें, सान्ध्यभोजनमें या राजनैतिक आलोचना-समितिमें—तो यह विचार करते ही मेरा शरीर काँप जाता है—फिर मेरा न जाने क्या होता। फिर रुजवेल्टके पलनेकी कोई आशा नहीं रहती।'

मातृत्व और पितृत्वकी भावना नष्ट होनेपर समाजकी कैसी भयानक स्थिति हो सकती है, इसकी कल्पनासे ही हृदय काँप जाता है।

तलाकका कानून बना तो वह केवल स्त्रीके लिये ही नहीं होगा, पुरुषके लिये भी होगा; और ऐसा होनेपर अधिक हानि स्त्रीजातिकी ही होगी। क्योंकि भारतवर्षमें अबतक भी स्त्रीजातिका पुरुषकी अपेक्षा बहुत कम पतन हुआ है। स्त्रियाँ पतिको तलाक देने बहुत कम आवेंगी—पुरुष बहुत अधिक आवेंगे। अतएव किसी भी दृष्टिसे तलाक-कानून श्रेयस्कर नहीं है। इसमें सब प्रकारकी हानि-ही-हानि है। अतएव प्रत्येक नर-नारीको इसका विरोध करना चाहिये।

हिन्दूशास्त्रके अनुसार तो सतीत्व परम पुण्य और पर-पुरुषका चिन्तनमात्र महापाप है। इसीलिये आज इस गये-गुजरे जमानेमें भी स्वेच्छापूर्वक सानन्द पतिके शवको गोदमें रखकर प्राणत्याग करनेवाली सतियाँ हिन्दूसमाजमें मिलती हैं।

भारतवर्षकी स्त्रीजातिका गौरव उसके विलक्षण सतीत्व और मातृत्वमें ही है। और स्त्रीजातिका यह गौरव भारतका गौरव है। इसकी रक्षा सबको प्राणपणसे करनी चाहिये।

(७९)

सती-चमत्कार

प्रिय बहिन! सस्नेह हरिस्मरण। आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये। उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपके प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

(१) प्राचीन कालमें आर्य-नारियाँ सती होती थीं, हँसती-हँसती पतिके शवको गोदमें रखकर अपने शरीरको भस्म कर डालती थीं। इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत मिलता है और यह सर्वथा सत्य मालूम होता है।

(२) सती-प्रथाबन्दीका कानून बना था। उस समय ऐसा कहा जाता है कि समाजकी निन्दाके भयसे स्त्रियाँ महान् मानसिक और शारीरिक कष्ट सहकर बिना मनके जलती थीं। वरं यहाँतक होने लगा था कि स्वार्थवश घरके लोग, जिसका पति मर जाता था, उस स्त्रीको उसकी इच्छाके विरुद्ध—जबरदस्ती पतिकी लाशके साथ बाँधकर जला देते थे। ये दोनों ही बातें न्यूनाधिक अंशमें सत्य हो सकती हैं। और यदि ऐसा होता था तो वह निश्चय ही निर्दयता और पापाचरण था तथा दयालु पुरुषोंके प्रयत्नसे उसका बन्द होना भी ठीक ही था। इतना होनेपर भी सच्ची सतियोंको पतिका अनुगमन करनेसे कौन रोक सकता है? कानूनकी वहाँतक पहुँच ही नहीं। इस गये-गुजरे जमानेमें भी बीच-बीचमें ऐसी सतियोंकी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ देखने-सुननेको मिलती हैं।

(३) आजकल जो सती होनेकी घटनाओंमें अपने-आप शरीरसे अग्नि प्रकट होने आदि चमत्कारकी बातें सुनी-पढ़ी जाती हैं, उनके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता है कि

वे कहाँतक सत्य हैं। बहुत सम्भव है कि उनमें बहुत-सी बातें बढ़ाकर भी लिखी या कही जाती हों।

(४) हाँ, मेरा ऐसा विश्वास है कि सतीके कन्धे या हृदयसे अथवा शरीरके किसी भी अंगसे अपने-आप भी अग्नि प्रकट हो सकती है। इसमें कई युक्तियाँ भी हैं, उनमेंसे कुछ आपकी जानकारीके लिये लिखता हूँ।

अग्नि सर्वत्र व्याप्त है। हमारे शरीरमें भी है। रगड़ लगनेपर वह प्रकट होती है। हाथ-से-हाथ मलिये, वह गरम हो जायगा। अरणि-मन्थनसे (लकड़ियोंको परस्पर रगड़नेसे) अग्नि प्रकट होना तो बहुत लोगोंने देखा होगा। जंगलोंमें पेड़ोंके आपसमें रगड़ लगनेसे अग्नि पैदा हो जाया करती है। चकमक पत्थर आपसमें चोट खानेपर आग उगलते हैं—यह सभी जानते हैं। इसी प्रकार किन्हीं विशेष संयोगोंमें शरीरसे भी अग्नि प्रकट हो सकती है। सतीदेवीने पिता दक्षके यज्ञमें अपने स्वामी भगवान् शंकरका अपमान देखा, तब उन्हें इतना सन्ताप हुआ कि उनके शरीरसे योगानल प्रकट हो गया और वे उसीसे जल गयीं।

शरीरका उत्ताप ज्वरके समय साधारण स्थितिसे कई गुना अधिक हो जाता है और उससे मनुष्य मरतक जाता है। यह गरमी शरीरके अन्दरसे ही जाती है। कुछ समय पहले 'चेराग' नामक पारसियोंके पत्रमें इस विषयपर लिखा गया था कि मनुष्यके शरीरमें छोटी-बड़ी बहुत गाँठें (Glands) हैं, जो सारे शरीरमें फैली हुई हैं। इन गाँठोंमें कुछ पसीनेकी हैं, जिनसे पसीना झरा करता है; कुछ आँसुओंकी हैं, जिनसे आँसू बहते हैं। कुछ गाँठें ऐसी भी हैं, जिनसे कोई भी रस नहीं झरता दिखायी देता। उन्हें Ductless Glands (रसवाही नलिकारहित ग्रन्थि) कहते हैं। इन गाँठोंके साथ शरीरके कद और आकृतिका सम्बन्ध रहता है।

इतना ही नहीं, मनुष्यके चरित्रका भी इनसे सम्बन्ध होता है। जैसे इन गाँठोंसे मनुष्यके चरित्रका निर्माण होता है, वैसे ही मनुष्यके चरित्रका इन गाँठोंपर प्रभाव पड़ता है। सारांश यह कि इन गाँठोंका विचित्र विकास असाधारण परिवर्तन और विनाश आदिका आधार मनुष्यके अपने जीवनपर निर्भर रहता है। फिर जैसी गाँठें होती हैं, उनसे वैसी ही क्रिया भी होती ही है।

एक सच्ची सती जिसका तन, मन और हृदय सर्वथा पवित्र है, जो अपने पतिके प्रेमके आधारपर ही जीती है, जिसने अपने हृदयमें पतिके सिवा किसीको स्थान ही नहीं दिया, जिसका जीवन पतिके लिये सदा आत्मत्याग करनेमें ही बीता और जो पतिका क्षणभरका भी वियोग सहन करनेमें यथार्थमें असमर्थ है, उसके इन चरित्रगत कार्योंका उसके शरीरकी ग्रन्थियोंपर कैसा प्रभाव होता है और उसके अन्दरके तमाम अवयव कैसी असाधारण स्थितिमें पहुँच जाते हैं, इसका हमलोग कुछ भी अनुमान नहीं लगा सकते। ऐसी अवस्थामें पतिवियोगकी स्थितिमें उसके आन्तरिक अवयवोंमें ऐसी विशेष क्रिया हो, जिससे अग्नि प्रकट हो जाय तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है?

मनुष्यके शरीरमें गलेके आगे एक ग्रन्थि है, जिसे अँग्रेजीमें 'थाइरोड ग्लैण्ड' (Thyroid Gland) कहते हैं। यह गाँठ शरीरमें प्रेम और कामना उत्पन्न करती है, शरीरमें गरमी बढ़ाती है और इसमेंसे निकलनेवाले रसका प्रवाह यदि बढ़ जाता है तो मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। इस गाँठसे निकलनेवाले रसको 'थाइरोक्सिन' (Thyroxin) कहते हैं।

इस गाँठ और इससे बहनेवाले रसके सम्बन्धमें डॉ० लुई बरमन एम० डी० महोदय अपने 'The Glands Regulating Personality' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

"Since the presence of thyroxin in the tissues determines the rate at which they burn themselves, it is obvious that if there were no mechanism for retarding its action and, at need varying it, they really, would set fire to themselves. That is to say if the tissues held a maximum of the thyroid internal secretion, and had to take more and more as it was fed out to them by the thyroid through the blood, the pressure of energy production would attain the state of a boiler without a safety value."

'मनुष्यके शरीरमें मांसपेशियोंके जलती रहने (गरमी प्राप्त करने) का आधार शरीरके थाइरोड नामक गाँठसे बहनेवाले रसके परिणामपर अवलम्बित है। यह निश्चित है कि यदि उस रसकी क्रियाको रोकनेके लिये और आवश्यकता होनेपर विशेष कम करनेके लिये कोई साधन न हो तो मांसपेशियाँ बिलकुल जलकर भस्म हो जायँ। अतएव जिस मांसपेशीमें थाइरोडसे बहनेवाला प्रवाह सबसे अधिक परिणाममें हो और रक्तके द्वारा उसे अधिक-से-अधिक मिलनेवाला प्रवाह जारी रहे तो उसमें पहुँचनेवाली शक्ति (गरमी) का दबाव सेप्टी वाल्वसे रहित एक बायलरकी स्थितिपर पहुँच जाय।'

अर्थात् जैसे इस प्रकारकी स्थितिमें बायलर फट जाता है, वैसे ही मनुष्यका शरीर जलकर भस्म हो जा सकता है। परन्तु मनुष्यमात्रमें ही इस बढ़ती हुई गरमीको सीमाबद्ध रखनेके लिये प्रकृतिने सुन्दर योजना बना रखी है, जिससे तन्दुरुस्त स्थितिमें मांसपेशीको उतनी गरमी मिलती रहती है, जितनी उसके लिये आवश्यक होती है।

परन्तु यदि किसी सतीके पति-वियोगके समय उसके मनकी स्थिति ऐसी असाधारण हो जाय कि जिससे थाइरोड ग्रन्थिपर सीधा प्रभाव पड़े और वह उसकी गरमीको एकदम बढ़ाकर शरीरसे अग्नि पैदा कर दे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पतिगतप्राणा प्रेममूर्ति सतीके हृदयमें जब पतिवियोगकी अग्नि सुलगती है, तब उसका रूप कैसा होता है इसको हमलोग ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते। ऐसी हालतमें गलेके पासकी थाइरोड गाँठमें रसका प्रवाह बढ़ जाना और उसके कारण कन्धे आदिसे अग्निका फूट निकलना सर्वथा सम्भव और युक्तियुक्त है।

इस स्थितिको डॉ० बरमनने हाइपरथाइरोडिज्म (Hyper-thyroidism) कहा है। अन्य कई विद्वानोंने भी इस ग्रन्थि-विज्ञानका समर्थन किया है।

हमारे शरीरमें एक अग्नि तो खास तौरपर रहती है, जिसे जठरानल कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मैं ही वैश्वानर (अग्नि) होकर शरीरके अन्दर चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ।' जो अग्नि अप्रकटरूपसे सदा वर्तमान है, वह यदि कारणविशेषसे प्रकट हो जाय तो इसमें क्या नयी बात है? अप्रकट अग्निका प्रकट होना तो हम अपने घरोंमें रोज ही देखते हैं। अतएव मेरी समझसे सतीके शरीरसे अग्निका उत्पन्न होना सर्वथा सम्भव और विज्ञानसम्मत है।

पतिवियोगके अवसरपर बिना किसी रोगके सती स्त्रीके मरणमें तो जरा भी आश्चर्यकी बात नहीं समझनी चाहिये। महान् शोक तथा महान् आनन्दकी दशामें हृदयकी गति रुककर मृत्यु होनेकी घटनाएँ तो बहुत होती हैं। मनका शरीरपर बड़ा भारी असर होता है। भक्त कवि जयदेवकी

मिथ्या मृत्युका समाचार सुनते ही उनकी धर्मपत्नी पद्मावतीका प्राणवियोग हो गया था, यह प्रसिद्ध है।

पर यह याद रखना चाहिये, सती होना सर्वथा स्वाभाविक वस्तु है। किसी बाहरी प्रेरणा या चेष्टासे ऐसा नहीं हुआ जाता। साथ ही पतिके साथ सहमरण करनेवाली सतीसे उस सतीदेवीका दर्जा किसी कदर कम नहीं है, बल्कि कई अंशोंमें उसका महत्त्व और भी अधिक है जो पवित्र ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करती हुई जीवित रहकर पतिके घर तथा बच्चोंकी निष्काम सेवा करती है और अपने पवित्र आचरणोंसे परलोकमें पतिको अनन्त सुख पहुँचाती रहती है।

(८०)

चार बहिनोंके पत्रोंके उत्तर

(१)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके जीवनकी स्थितिसे परिचय प्राप्त हुआ। मेरी समझसे इसमें आपका कोई अपराध नहीं है। जिस दुष्टने आपके साथ निकटका आत्मीय होते हुए भी ऐसा दुर्व्यवहार किया, वही सर्वथा दोषका पात्र है। आप इस समय अपने स्वामीके साथ सुखी हैं और आपके स्वामी बड़े ही सदाचार-परायण, पवित्रात्मा हैं—यह बहुत ही आनन्दकी बात है। आप उनकी सेवा करती हैं और उनका आपपर आदर्श सद्भाव है, यह भगवान्की कृपा है। आपको जो पश्चात्ताप है और पतिदेवसे पूर्वकी घटना न बतानेके कारण जो आत्म-ग्लानि है, सो ठीक ही है। सदाचारिणी सत्-स्त्रियोंमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है। मेरी सम्मतिमें आपको इसके लिये अब दुःख नहीं करना चाहिये, और आत्महत्याकी बात तो सोचनी ही नहीं चाहिये। आत्महत्या स्वयं एक बहुत बड़ा पाप है और वह जीवकी भयानक दुर्गतिका कारण होता है। बच्चोंकी देख-रेखकी बात भी है ही। किसी भी दृष्टिसे आत्महत्याका समर्थन नहीं किया जा सकता। फिर आप तो अपराधिनी हैं भी नहीं। लड़कपनमें दुष्ट प्रकृतिके पुरुषने जो अनुचित लाभ उठाया, इसमें यदि किसी अंशमें आपका अपराध माना भी जाय तो वह अबतककी पश्चात्तापकी आगमें जल गया है! आप श्रीरामायणजीका पाठ करती हैं, यह सब प्रकारके पापोंका नाश करनेवाला और परम मंगलकारी है। मेरी समझसे

पतिदेवके सामने अब उक्त घटनाको प्रकट करनेमें कोई लाभ नहीं है। घटना तो बदल नहीं सकती; आपका अपराध है नहीं, फिर व्यर्थ ही उन्हें कष्ट पहुँचानेमें क्या लाभ है? आप ऐसा करके उन्हें धोखा नहीं दे रही हैं; पर आप इसे जो धोखा मान रही हैं, यह आपका शील है और आदर्श गुण है। धोखा तो तब होता जब आप इस समय जान-बूझकर कोई अपराध करतीं और उसे अपने स्वामीसे छिपातीं। इसलिये आप किसी प्रकार भी विषाद मत कीजिये और श्रीभगवान्‌को याद कीजिये। वे अशरण-शरण हैं और सच्चे हृदयसे शरण होनेपर महान्-से-महान् पापीको भी तुरन्त आश्रय दे देते हैं। आप तो निर्दोष हैं। भगवान् आपको अवश्य शान्ति देंगे।

(२)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने एक कुलीन कुमारीकी बात लिखी, उसे पढ़कर प्रसन्नता हुई। सचमुच उनका भगवद्विश्वास और निष्ठा सराहनीय है। उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् जिसको एक बार अपना लेते हैं, फिर कभी उसे छोड़ते नहीं, भले ही किसी कारणवश बीचमें उसे सम्बन्ध-विच्छेद हुआ-सा जान पड़े। उन्हें चाहिये कि वे आर्तभावसे अपने भगवान्‌को पुकारती रहें और प्रार्थना करती रहें। रही विवाहकी बात, सो यदि स्वास्थ्य अच्छा न हो तब तो दूसरी बात है; नहीं तो, पिता-माताके आज्ञानुसार विवाह करा लेनेमें लाभ मालूम होता है। न तो प्राण देनेकी आवश्यकता है और न घरसे भागनेकी ही। आजकलका समय बहुत बुरा है। चारों ओर पापका विस्तार हो रहा है। ऐसी अवस्थामें अविवाहिता रहना उचित नहीं है। भगवान्‌का

मंगल विधान मानकर भगवान्‌की सेवाके भावसे ही विवाह-बन्धनमें बँध जाना उचित और लाभदायक प्रतीत होता है। विवाह हो जानेपर पतिदेवको ही भगवान्‌की जीवित प्रतिमा मानकर भगवद्भावसे ही उनकी सेवा करनी चाहिये। यों करनेपर भगवान् अवश्य सहायता देंगे और सारी अड़चनोंको दूर करके अपने और भी समीप बुला लेंगे। चिन्ता नहीं करनी चाहिये। संसार भगवान्‌का लीला-क्षेत्र है, यह मानकर भगवान्‌की लीलामें सहर्ष यथायोग्य भाग लेना चाहिये। मन भगवान्‌में रहे और भगवान्‌की सेवाके लिये ही जगत्‌के सारे कार्य हों।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। मेरी समझसे भगवान्‌ने आपका जिनके साथ विवाहका विधान किया है, वही सर्वथा उपयुक्त और ठीक है। आपके पति सदाचारी और भगवत्-सेवामें दृढ़ प्रीति रखनेवाले हैं ही, फिर आपको उन्हींकी सेवामें चित्त लगाना चाहिये। आत्महत्या करनेकी बात तो सोचनी भी नहीं चाहिये। किसी प्रकार शरीरका अन्त कर देनेसे ही जीव कर्म-बन्धनसे नहीं छूट जाता। बल्कि जैसे जेलसे भागा हुआ कैदी पकड़े जानेपर और भी अधिक दण्डका भागी होता है, वैसे ही आत्महत्या करनेवाले पापी जीवको परलोकमें बड़ी भयानक यन्त्रणा भोग करनी पड़ती है। आत्महत्या करनेके बाद आपको जिनके प्रति लड़कपनमें आकर्षण था, वे मिल ही जायँगे—यह निश्चय नहीं है। पता नहीं आप किस योनिमें कहाँ जायँ और वे कहाँ रहें। विवाहके पहले दूसरी बात थी; पर अब जब भगवान्‌के मंगल-विधानके अनुसार माता-पिताने जिस सत्पात्रके साथ

आपका सम्बन्ध कर दिया है, उन्हींको जीवन समर्पण करके सुखसे रहना चाहिये, नहीं तो, यह अशान्तिकी आग आपको यहाँ भी जलायेगी और आगे भी।

यदि वास्तवमें आपके हृदयमें सच्चा प्रेम है और वे पुरुष भी यदि प्रेमके ही उपासक हैं तो आपलोगोंको जीवनमें कभी न मिलनेका प्रण करके पवित्र बहिन-भाईका मानसिक सम्बन्ध रखना चाहिये। यह भी न रहे तो और अच्छा है।

आपको न तो दुःख करना चाहिये और न अपनेको हतभागिनी ही मानना चाहिये। भगवान्‌का भजन करना चाहिये और उनकी कृपापर विश्वास करके अपने जीवनको पवित्र और सुखी बना लेना चाहिये। आपका दुःख तो आपकी कल्पनाका है और इस कल्पनाको छोड़ते ही मिट सकता है। और यह कल्पना आपके लिये पाप-कल्पना है, अतः उसे छोड़ देना ही उचित है।

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र प्राप्त हुआ। उत्तर लिखनेमें कुछ देर हो गयी! आपने जो अपनी स्थिति लिखी, वह अवश्य ही बड़ी शोचनीय है; पर इसे प्रारब्धका भोग ही समझना चाहिये। आपने जो निश्चय किया है, इसमें भी मुझे तो आपका मोह ही मालूम होता है। इससे तो अच्छा था कि आप भगवान्‌से प्रार्थना करतीं, विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारतीं। यों करनेपर वे कृपा करके आपके इस जन्म और परजन्म—दोनोंके लिये यथायोग्य व्यवस्था कर देते। मनुष्य यहीं भूल करता है और अपने मनकी बात भगवान्‌से करवाना चाहता है। दूसरे जन्ममें आपके और उनके कर्मानुसार किसकी क्या गति होगी, यह कौन कह सकता है। पर जब आपने निश्चय

कर लिया है, तब भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे आपको सद्‌बुद्धि दें, आपके जीवनको निष्पाप रखें और परजन्ममें आपकी इच्छा पूर्ण करें। इस सम्बन्धमें मैं कोई विशेष जानकारी नहीं रखता; इसलिये इस स्थितिमें नहीं हूँ कि आपको कुछ बता सकूँ।

घरसे निकलकर भागनेकी बात बिलकुल नहीं सोचनी चाहिये, और जहाँतक बने, अपने रोगी पतिकी तन-मनसे सेवा करनी चाहिये। इससे आपको भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होगी। पति कैसे भी हों, आपके लिये तो पूजनीय ही हैं। हाँ, वे किसी पापके लिये आज्ञा दें तो उनकी वह आज्ञा नहीं माननी चाहिये। और आपने उनकी ऐसी आज्ञा न मानकर बहुत अच्छा कार्य किया। बड़ोंकी उस आज्ञातकको तो मान लेना चाहिये जिसके परिणाममें अपनी हानि होती हो, पर उनकी कोई हानि न हो। परन्तु जिस आज्ञापालनमें उनका अपना भविष्य बिगड़ता हो, उसे न मानना ही कर्तव्य है। 'पाप करनेवाला', 'करवानेवाला' और 'पापका समर्थन करनेवाला'—तीनों ही पापी होते हैं। इसलिये किसीकी पापाज्ञाका न मानना उसे पापसे बचाना है। विशेष धर्मकी बात दूसरी है, पर वह सबके लिये पालनीय नहीं है।

कर्मोंका फैसला देनेवाले श्रीभगवान् ही हैं और उन्हींकी कृपासे किसीकी 'धारणा' सत्य हो सकती है। अवश्य ही वह धारणा धर्ममयी होनी चाहिये।

(८१)

पत्नीका त्याग सर्वथा अनुचित है

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। आपकी परिस्थिति ज्ञात हुई। पत्रको देखकर जान पड़ता है—आप स्वाध्यायशील और विवेकी पुरुष हैं। तभी तो विषम परिस्थितिमें पड़कर भी आपने धैर्य और विवेकका परित्याग नहीं किया है। आजकलके नवयुवक नये-नये विवाहके लिये स्वयं बहाने ढूँढ़ा करते हैं। आपको तो पिताकी सम्मति ही नहीं, आदेश और आग्रह भी प्राप्त हैं, मित्र भी ऐसी ही सलाहें देते हैं, फिर आपके मार्गमें कौन-सी बाधा थी? इतनेपर भी आपने कर्तव्यका विचार किया और दूसरोंसे भी परामर्श लेनेकी आवश्यकता समझी। यह आपकी साधुता ही है और इसके लिये आप साधुवादके पात्र हैं।

अपनी पत्नीके जो दोष आपने लिखे हैं, वे सम्भव हैं उनमें हों, तो भी धर्मपत्नी हैं, यह सोचकर वे त्याग करने योग्य कदापि नहीं हैं। कहीं-कहीं तो पतियोंमें ही बड़े-बड़े दोष देखे जाते हैं और क्षमामूर्ति नारियाँ सब कुछ सहन करके उसी पतिके साथ सन्तोषपूर्वक जीवन व्यतीत करती पायी जाती हैं। अधिकांश उदाहरण ऐसे ही हैं जहाँ मनचले पुरुष हैं और साध्वी स्त्री हैं। आपकी घटनाको मैं अपवादरूप मानता हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने यह आदेश दिया है—वे दरिद्र, वृद्ध, रोगी, मूर्ख, अन्धे, बहरे, क्रोधी और नपुंसक पतिका भी परित्याग न करें—

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अतिदीना॥

जब नारी-जाति पुरुषके लिये इतना त्याग कर सकती है, तब

पुरुषको क्या उसके लिये भी कुछ नहीं करना चाहिये? यह कहाँका न्याय है? विवाद या कलह एक ही ओरसे नहीं होता। कुछ-न-कुछ कारण दोनों ही ओर रहता है। यदि दोनों ओरके कारणका ठीक-ठीक अध्ययन करके उसे दूर करनेकी चेष्टा की जाय तो विवादकी जड़ कट सकती है। कुटुम्बके अन्य सारे सदस्य यदि क्षमाभावको अपना लें तो केवल एकके झगड़ालू होनेसे कलह नहीं हो सकता। आपकी माताजीके लिये जैसे आप पुत्र हैं, वैसे आपकी पत्नी भी उनकी पुत्री हैं। वे आपको और उनको अपनी सगी सन्तानकी तरह प्यार करने लगें तो कोई कारण नहीं कि पत्नीके स्वभावमें अन्तर न पड़े। मेरे कहनेका मतलब यह नहीं कि पत्नीको अपनी ओरसे सुधारकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। यदि वह बुद्धिमती और विवेकवती होतीं तो उन्हींका कर्तव्य था—सास-ससुरके चरणोंमें पड़कर अपनी भूलोंके लिये क्षमा माँगना और निरन्तर उनकी सेवामें संलग्न रहना; परन्तु किसी भी कारणसे यदि अज्ञानवश उन्होंने अपने कर्तव्यका पालन नहीं किया तो लोग सज्ञान और विवेकी हैं, वे भी उन्हींकी तरह भूल करें, यह कदापि वांछनीय नहीं हो सकता।

आपने पत्नी-परित्यागके पक्ष और विपक्षमें जो युक्तियाँ उपस्थित की हैं, उनपर क्रमशः विचार किया जाता है—

१—श्रीरामने सीताका परित्याग मनसे नहीं किया था। उनके मनमें सीताके प्रति सदा एक-सा आदरका भाव रहा। बाहरसे भी उनका त्याग तभी हुआ, जब और कोई मार्ग नहीं रह गया था। प्रजाकी भी भूल थी, प्रजाका उससे कोई हित नहीं हुआ। अन्तमें प्रजाको भूल स्वीकार करनी पड़ी और सीताजीके सत्यकी विजय हुई। क्या यही परिस्थिति आपके सामने भी है? क्या

आपकी पत्नीपर भी ऐसा ही दोषारोपण किया गया है? क्या उसके त्यागमें ही माता-पिताका कल्याण निहित है? क्या त्यागके सिवा और कोई मार्ग नहीं रह गया है? सीताका त्याग कितना ही न्याय्य क्यों न रहा हो, क्या आजतक उसके कारण प्रायः लोग श्रीरामपर आक्षेप नहीं करते?

२—राजा कैकयने कैकेयीकी माताका परित्याग क्यों किया, इसलिये कि वह ऐसा कार्य करनेको उतारू थी, जिससे राजाकी मृत्यु निश्चित थी। क्या आपकी पत्नी भी आपके प्राण लेनेको उद्यत है, फिर ऐसा संकल्प क्यों हुआ?

३—मनुस्मृतिमें ऐसी कन्याको त्यागनेयोग्य बताया गया है, जो विवाहके पहलेसे ही निन्दित, रोगिणी तथा दूषित आचरणकी रही हो। छलसे उसके साथ ब्याह कराया गया हो और उसके दोष बताये न गये हों। क्या यही बात आपके सामने भी है? जो स्वभावतः नित्य-निरन्तर पतिके साथ द्वेष रखती हो वह स्त्री भी त्याज्य है, परन्तु आपकी स्त्री ऐसी तो नहीं प्रतीत होती। वह तो इसलिये रूठी-सी जान पड़ती हैं कि आप माता-पिताके पक्षमें होकर उनका सर्वथा तिरस्कार करते हैं। आपका माता-पिताके न्यायपक्षमें रहना नितान्त धर्मसंगत है। आपको ऐसा ही करना भी चाहिये। वह स्त्रीका अज्ञान है कि इस उचित कार्यको करनेपर भी वह आपसे कुपित रहती हैं। उन्हें समझानेकी चेष्टा हो अथवा उन्हें कुछ काल अलग रखा जाय जैसा कि वह अब भी पिताके घरमें हैं, यही उनके लिये दण्ड है। त्यागकर सर्वथा दूसरा विवाह करनेके लिये तो कोई भी विधान नहीं है। चाणक्य आदि नीतिकारोंने दुष्टा स्त्री उसीको कहा है, जो व्यभिचारिणी हो। आपके सामने ऐसा प्रश्न कदापि नहीं है। मेरी समझसे तो वर्तमान कालको देखते किसी भी स्थितिमें स्त्रीका त्याग नहीं करना चाहिये।

४—जो पिता शाप और वरदान देनेमें समर्थ हों, उनकी आज्ञाका विचार किये बिना पालन करना अच्छा है। परशुराम और ययातिके पुत्रोंके दृष्टान्तसे यही निष्कर्ष निकलता है। जो पिता राग-द्वेषके वशीभूत हों, उनकी आज्ञापर विचार कर लेना आवश्यक है। प्रह्लादने हिरण्यकशिपुके कहनेसे भगवान्‌का भजन नहीं छोड़ा था। पिताका वास्तविक कल्याण करनेवाला प्रत्येक कार्य अवश्य करना चाहिये; किन्तु जिससे पिताका भी परलोक बिगड़े; ऐसी आज्ञा माननेपर पिताकी ही हानि है। अतः उसे अस्वीकार कर देना उचित है। आपकी स्त्रीके परित्यागसे आपके पिताका या माताका कल्याण होगा, ऐसा समझना सर्वथा भूल है। अतः आपको पिताकी यह अधर्मयुक्त आज्ञा, जो उनका भी अकल्याण करनेवाली है, नहीं माननी चाहिये। पत्नी-परित्याग अथवा सम्बन्ध-विच्छेदके विरोधमें जो आपने विभिन्न ग्रन्थोंके विचार प्रस्तुत किये हैं, वे मननीय और माननीय हैं। उन्हींके आश्रयसे वास्तविक हित हो सकता है।

५—स्त्रीके स्वभावको सुधारनेके लिये सबसे पहली बात है उसे निश्छल प्रेमदान देना। उसके सुख-दुःखको पूछना, उसमें हाथ बँटाना और उसे सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करना। अच्छे-अच्छे ग्रन्थों और महात्माओंके विचार सुनाना। रामायण आदि पढ़ना अथवा सुनाना। पुराणोंमें वर्णित साध्वी स्त्रियोंके चरित्र सुनाना। उनकी बुद्धि और विवेकको प्रेमके साथ जगाना और भगवान्‌से उसके सुधारके लिये सदा प्रार्थना करना।

६—दो स्त्रियोंके होनेका परिणाम राजा उत्तानपादका दृष्टान्त आपके सामने है। राजा दशरथके आनन्दकाननमें जो भयंकर

कालाग्नि प्रकट हुई, उसका कारण भी बहु-विवाह ही है। आप माता-पिताकी सेवा करें। माता-पिताका कर्तव्य है कि वे अपनी रूठी हुई बहू या पुत्रीको मनाकर लावें। हृदय खोलकर उससे प्यार करें, 'क्योंकि **'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'** सन्तान दुष्ट हो सकती है, किन्तु माता-पिताका उसपर भी स्नेह ही होता है। हमारे एक मित्रने एकसे अधिक विवाह किये हैं और इसके कारण वे बहुत दुःखी हैं।

७—पहलेसे ही स्त्रीको दुष्टा न मान लें। स्त्रीमें दोष होंगे। दोष आगन्तुक हैं, उन्हें दूर किया जा सकता है। इसका उपाय पाचवें प्रश्नके उत्तरमें बताया गया है।

आपको अपने कर्तव्यसे विचलित नहीं होना चाहिये। आप माता-पिताके पुत्र हैं, उन्हें सुख दें, उनकी सेवा करें, उनकी उचित आज्ञाका पालन करें। परन्तु पत्नीके भी पति हैं, उसको भी सच्चे हृदयसे स्नेह-दान दें। दूसरोंके दोष न देखकर अपने कर्तव्यपर ध्यान दें। पत्नीको भी समझाते रहें—परन्तु प्रेमीकी भाँति, कठोर बनकर नहीं। भगवान्‌को सदा याद रखकर उन्हींसे सहायता माँगे। शेष श्रीहरिकी कृपा!

(८२)

पत्नीसे अनुचित लाभ न उठाइये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा—मेरी पत्नी बड़ी बुद्धिमती है, स्वभाव भी अच्छा है। सबके साथ अच्छा बर्ताव भी करती है। परन्तु मेरी सब बातें नहीं मानती। कहती है 'इस बातको मानना पाप है।' मैं उसे पतिव्रता शाण्डिलीका उदाहरण देता हूँ, पर वह उसे स्वीकार नहीं करती। इससे हम दोनोंमें कलह रहती है। मेरी बात मानना पाप है या न मानना। इस विषयमें आपकी राय लिखिये।

इसके उत्तरमें निवेदन है कि पतिव्रता आर्य स्त्रीको निश्चय ही अपने पतिदेवका छायाकी भाँति अनुसरण करना चाहिये। पतिकी बात तो क्या, उसकी प्रत्येक रुचिका आदर करके उसे सिर चढ़ाना चाहिये। अन्यान्य सब धर्मोंको छोड़कर केवल पतिके प्रसन्नता-सम्पादनको ही अपना परम और एकमात्र धर्म मानना चाहिये। पतिके लिये, ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिसका त्याग पतिव्रता नहीं कर सकती। परन्तु केवल इसी सिद्धान्तपर मूर्खताके साथ चिपटे रहनेके दुराग्रहसे काम नहीं चलता। धर्म दो तरहके होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म सबपर लागू होता है और विशेष धर्मका विशेष परिस्थितिमें विशेष व्यक्तियोंद्वारा ही धारण होता है। शाण्डिलीजी असाधारण देवी थीं। उन्होंने पातिव्रतके विशेष धर्मका ही अवलम्बन किया था। इससे उनमें ऐसी शक्ति आ गयी थी कि उनके कह देनेमात्रसे सूर्यका उदय होना रुक गया। जो इस प्रकारकी विशेष धर्मयुक्त शक्तिमती देवी हों, वे शाण्डिलीकी तरह पतिदेवको वेश्याके यहाँ ले

जायँ तो भी कोई हर्ज नहीं। उनका वह विशेष धर्म उनकी रक्षा करेगा और उनके पतिको भी पाप-कर्मसे बचा लेगा। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि विशेष धर्मवाली पतिव्रता देवीने पतिकी आज्ञासे पर-पुरुषके पास जाना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब वह पर-पुरुषके पास पहुँची तो उसके पातिव्रत-तेजसे उस पुरुषका चित्त शुद्ध हो गया और वह उसे माता कहकर चरणोंमें लोट गया। परशुरामने पितृ-भक्तिके विशेष धर्मको ग्रहण करके उनकी आज्ञासे अपनी सगी माता और तीन भाइयोंको मार दिया। परन्तु उनके विशेष धर्मने पितासे वरदान दिलवाकर उन चारोंको पुनः जिला दिया और उनको परशुरामके द्वारा मारे जानेकी बात भी उन्हें याद नहीं रही। परन्तु ये बातें सबके लिये नहीं होतीं। यह अनुकरण करनेकी चीज नहीं है। सामान्य धर्ममें पतिव्रता पत्नीको, पितृभक्त पुत्रको, गुरुभक्त शिष्यको और स्वामिभक्त सेवकको अपने पति, पिता, गुरु और स्वामीकी वहींतककी आज्ञाओंका पालन करना चाहिये, जिनके पालनसे आज्ञा देनेवालोंको पाप न होता हो।

× × × ×

अपनी हानि हो, अपने नरकमें जानेकी सम्भावना हो, वहाँतककी आज्ञा भी मानी जा सकती है; परन्तु जिस आज्ञाके पालनसे आज्ञा देनेवालेको नरकमें जाना पड़े, ऐसी अशास्त्रीय आज्ञाको कभी नहीं मानना चाहिये। जैसे पति अपनी पत्नीको यदि पर-स्त्रीसे व्यभिचार करनेमें सहायता देनेकी या पर-पुरुषके साथ व्यभिचार करनेकी आज्ञा दे तो उसे कभी नहीं मानना चाहिये। जैसे पिता किसी दूसरेका अहित करनेकी, चोरी-डकैती, खून या व्यभिचार आदिकी

आज्ञा दे अथवा स्वयं चोरी, जारी, हिंसा आदि पापकर्म करता हो और उसमें सहायता करनेकी आज्ञा दे तो उसे नहीं मानना ही कर्तव्य और धर्म है। पापबुद्धि और पापचेष्टाका समर्थन करना भी पाप है, फिर पाप करना तो पाप होगा ही और जो इस प्रकार किसीको—पत्नी, पुत्र, शिष्य या सेवकको पापमें लगावेगा, वह भी प्रेरक और समर्थक होनेसे पापका भागी होगा ही। ऐसी हालतमें उसकी आज्ञा न माननेमें ही उसका और अपना कल्याण है। आपके पत्रसे, जब कि आप शाण्डिलीका उदाहरण देनेकी बात लिखते हैं, ऐसा अनुमान होता है कि आपने अवश्य ही किसी पापकार्य करने या करानेके लिये अपनी धर्मपत्नीको आज्ञा दी होगी और उन्होंने उसे पाप बतलाकर माननेसे इनकार किया होगा। यदि ऐसी बात है तो मेरी समझसे उन्होंने बहुत ठीक किया है और ऐसा ही सबको करना भी चाहिये। और आपको भी उनपर नाराज न होकर अपना सौभाग्य मानना चाहिये और अपनी पत्नीका कृतज्ञ होना चाहिये कि जो वे आपको पाप-पथपर चलनेसे रोकती हैं। पति-पत्नीका परस्पर सच्चे मित्रका नाता है और मित्रका धर्म है—'मित्रको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर चलाना।' (**'कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।'**)

पतियोंने, पिताओंने, गुरुओंने और मालिकोंने अपने अधिकारका और शास्त्रकी आज्ञाओंका बड़ा दुरुपयोग किया है, और बहुत अनुचित लाभ उठाया है। पतियोंने अपनेको परमेश्वर बतलाकर भोली स्त्रियोंसे अपनी नारकीय पापवासनाकी पूर्तिमें सहायता प्राप्त की, पिताओंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये पुत्रोंको पाप-पथपर अग्रसर किया, गुरुओंने अपनी निन्दनीय इच्छाओंकी पूर्तिके लिये शिष्य-शिष्याओंको कुमार्गपर

चलाया और मालिकोंने अपने जघन्य स्वार्थ-साधनके लिये सेवकोंको चोर, डाकू, हिंसक और बदमाश बनाया। आज बड़ोंके प्रति छोटोंका जो अनादर देखा जाता है, उसमें एक कारण यह भी है, जो प्रतिक्रियाके नियमके अनुसार अनिवार्य था।

सचमुच आपकी पत्नी बुद्धिमती हैं और साथ ही आपकी सच्ची हितैषिणी भी हैं। आप उनका उपकार मानिये और उनकी बुद्धिमत्तासे लाभ उठाकर अपने जीवनको पवित्र बनाइये। कभी भी शाण्डिलीजीका उदाहरण देकर उनके द्वारा अपनी पापवासना-पूर्तिकी चेष्टा मत कीजिये। शाण्डिलीजीका आचरण अपवाद है, सर्वसाधारणके लिये नियम नहीं। हाँ, पतिकी पवित्र सेवामें अपने तन-मन-धनका उत्सर्ग कर देना स्त्रीका पवित्र धर्म है और उसका उसे अवश्य पालन करना चाहिये। याद रखना चाहिये, पत्नीकी बुद्धिमें पति परमेश्वर है; परन्तु पति अपनेको परमेश्वर समझकर पत्नीको गुलाम समझे—यह सर्वथा अनुचित है। पत्नी अर्धांगिनी है और पतिके द्वारा सदा ही सम्मान तथा सद्व्यवहार प्राप्त करनेकी अधिकारिणी है।

मेरे पत्रमें कुछ कटुता आ गयी हो तो कृपया क्षमा करें।

(८३)

पत्नीको मारना महापाप है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'मैं कभी-कभी गुस्सेमें आकर अपनी पत्नीको कटुवचन कह बैठता हूँ। इसपर कभी तो वह चुप रह जाती है और कभी कुछ सामने बोल देती है। जब बोल देती है तब मेरा गुस्सा और बढ़ जाता है और मैं उसे मार बैठता हूँ। मुझे इसके लिये कभी-कभी पीछेसे पश्चात्ताप भी होता है। अब आप बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये।'

मेरी समझसे अपनी पत्नीपर पतिका हाथ उठाना बहुत बड़ा पाप है। क्योंकि वह असहाय है, पतिके ही आश्रित है, बदलेमें वह सिवा दुःखी होने, रोने अथवा कड़े मिजाजकी हो तो कुछ कटुवचन कहनेके और कोई प्रतिकार नहीं कर सकती। क्रोध तो किसीपर भी नहीं होना चाहिये। वह तो महाशत्रु है। जिसके मनमें आता है उसको पहले जलाता है और जिसके प्रति आता है उसको पीछे (वाणी आदिके द्वारा) प्रकट होनेपर जलाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंको अपने हितके लिये उसका सर्वथा त्याग ही करना चाहिये। परन्तु यदि आवे ही तो समान शक्तिवालेपर आनेसे उसका कुछ औचित्य भी कहा जा सकता है। लेकिन जो अपनेसे हीनबल हो, प्रतिकार करनेकी शक्ति न रखता हो, चुपचाप रोने और दुःखी होनेके सिवा कुछ भी न कर सकता हो, उसपर क्रोध करना तो वस्तुतः बड़ी ही नीचता और कायरता है। परन्तु होता है प्रायः यही। दुर्बलपर ही गुस्सा आया करता है। फिर पत्नी तो सहधर्मिणी है उसका समान दर्जा

है, उसकी अकारण अवज्ञा करना भी पाप है, मारना तो महापाप है। स्त्री वशमें हो सकती है सच्चे प्रेमसे, सद्व्यवहारसे और हितकर मधुर वचनोंसे। उसके हितके लिये बिना गुस्सेके उसे कभी कटु शब्द कहे जायँ तो वह दोषकी बात नहीं है; परन्तु साथ-ही-साथ आत्मपरीक्षा भी करनी चाहिये। धर्मका सार यह बताया गया है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'जो-जो बातें अपनेको प्रतिकूल मालूम होती हों, दूसरेके प्रति उनको कभी न करें।' आपको कोई कड़वी जबान कहे, गाली दे, मारे, तो क्या आपको वह भला मालूम होगा? यदि नहीं तो, फिर आपको क्या अधिकार है कि आप दूसरोंको बुरी जबान कहें, उन्हें गाली दें और मारें।

अतएव मैं आपसे प्रेमपूर्वक निवेदन करता हूँ कि पत्नीको मारनेकी आदतको सर्वथा आप छोड़ ही दें। इसके लिये तो शपथ कर लें। आपको कभी-कभी पश्चात्ताप होता है, इससे पता लगता है कि आप इस चीजको बुरी मानते हैं। अतएव आपके लिये इसे छोड़ना बहुत कठिन नहीं होगा। 'कटु' शब्द भी यथासाध्य न बोलें। क्योंकि कटुका प्रतिकार भी प्रायः कटु ही होता है और उससे कटुताके और भी बढ़नेकी आशंका रहती है।

साथ ही मेरा आपकी पत्नीसे भी अनुरोध है कि वे भी वाणीका संयम करें। आपके कटु शब्दोंके बदलेमें या तो चुप रहें या यदि आपका गुस्सा बढ़नेकी सम्भावना न हो तो ठीक समय देखकर बहुत नम्र तथा मीठे शब्दोंमें आपको समझा दें। ऐसा होगा तो फिर मार-पीटका प्रसंग कभी आवेगा ही नहीं। विशेष भगवत्कृपा।

(८४)

पत्नीका त्याग अनुचित है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके वैश्य मित्रके धर्म-संकटका हाल मालूम हुआ। भलीभाँति विचार करनेके बाद इस सम्बन्धमें मेरे मनमें जो बात आयी है, उसे मैं नीचे लिख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि इसके अनुसार करनेसे आपके मित्रकी तथा उनके घरवालोंकी भलाई होगी। पत्नीके त्यागका विचार तो कभी नहीं करना चाहिये। जब वह अपनेको निर्दोष बतलाती है, तब केवल सन्देहवश उसके पल्ले दोष बाँधना सर्वथा अनुचित और हानिकारक है। सन्देहका लाभ तो अदालतमें भी मिलता है। दूसरी बात यह है कि उनकी पत्नीका तथा.....की उम्रमें इतना अन्तर है कि वह पत्नीके मनमें आकर्षण उत्पन्न करनेयोग्य नहीं हैं। मैं तो समझता हूँ, उनकी पत्नीसे ऐसा कोई दोष बिलकुल नहीं हुआ है और वह सर्वथा निर्दोष है। उसके साथ आपके मित्रको धर्मपत्नी मानकर वैसा ही सुन्दर और स्वाभाविक व्यवहार करना चाहिये।

फिर यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि स्त्रीमें कोई दोष आया है (यद्यपि ऐसी बात प्रतीत नहीं होती) तो वैसी हालतमें वस्तुतः उसमें प्रधान दोष किसका है, इसपर विचार करना चाहिये। मेरी समझसे तो ऐसे प्रसंगोंमें स्त्रीका दोष जहाँ दो-चार आने होता है, वहाँ पुरुषका बारह-चौदह आने होता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि स्त्री बेचारी विवश हो जाती है। इस दृष्टिसे भी वह सर्वथा क्षम्य है। दण्डका पात्र तो पुरुष होता है जो प्रायः बचा रह जाता है।

पत्नीके त्यागमें तो हानि-ही-हानि है। कुछपर विचार कीजिये। (१) यदि वह निर्दोष है और केवल सन्देहवश उसका त्याग कर दिया जायगा तो उसे महान् दुःख होगा। उसकी अन्तरात्माके मूक अभिशापसे आपके मित्रका अहित होगा। (२) परिस्थितिवश यदि कभी कोई दोष बना है, तो वह इसके लिये मन-ही-मन जलती ही होगी। त्यागकी बातसे उसकी वह जलन बढ़ेगी और उसको बड़ा दुःख होगा, जो आपके मित्रके लिये अनिष्टकारक होगा। (३) उसकी छोटी उम्र है, आजके गन्दे वातावरणमें उसका जीवन पवित्र रहकर कैसे निभ सकेगा। यदि पवित्र न रह सका तो इसकी जिम्मेवारी भी आपके मित्रपर आवेगी। (४) आपके मित्र भी अभी युवक हैं, उनके जीवनमें भी पाप होना सर्वथा सम्भव है। (५) अभी तो घरमें ही क्लेश है, पर यह बात यदि मुहल्ले-गाँवमें फैली तो बड़ी बदनामी होगी, मान-सम्मानका नाश होगा और बच्चोंका सम्बन्ध होना कठिन हो जायगा। और यदि सन्देहवश इतनी बड़ी जोखिम उठायी जायगी तो वह बहुत बड़ी मूर्खताका कार्य होगा। और भी बहुत-सी हानियाँ हैं।

आपके मित्रको चाहिये कि वे अपनी पत्नीके साथ हृदयसे प्रेम करें। मनुष्यमें कमजोरी होती है। मेरी तो ऐसी धारणा है कि स्त्रियोंकी अपेक्षा आजकल पुरुष अधिक पापी हैं। पापके प्रस्ताव और प्रयत्न पहले पुरुषकी ओरसे ही होते हैं। यदि कभी किसी परिस्थितिवश किसी स्त्रीसे कोई दोष बन भी गया हो तो उसे उसके पल्ले बाँधकर, उसे दोषी साबित कर उसके जीवनको बिगाड़ना नहीं चाहिये। यह और भी बड़ा पाप है; क्योंकि इसमें पापोंके बहुत अधिक बढ़नेकी सम्भावना है। किसीके छिद्रको प्रकाश करनेकी अपेक्षा अपना

अंग देकर भी उसे ढक देना कहीं श्रेष्ठ है। फिर वह तो उनकी धर्मपत्नी है और आपके लिखनेके अनुसार बड़े अच्छे स्वभावकी भी है। उसे सर्वथा निर्दोष मानकर ही व्यवहार करना चाहिये। इसीमें उसका और आपके मित्रका तथा बच्चोंका कल्याण है। हाँ, यदि आवश्यक ही हो और सम्भव हो तो वृद्ध महाशयके लिये पृथक् प्रबन्ध किया जा सकता है। अवसरपर उनका तो त्याग भी किया जा सकता है, पर धर्मपत्नीका नहीं। यही धर्म है और यही कर्तव्य है।

इसके अतिरिक्त विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और उनकी पत्नीको भी चाहिये कि वह भी नित्य भगवान्‌के नामका नियमित जप करें। तथा सबको सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करें। इससे पिछले पापोंका नाश होगा, मनमें पवित्रता आवेगी और भविष्यमें पापोंसे बचनेकी शक्ति प्राप्त होगी।

(८५)

दुष्ट पतिको पत्नी क्या समझे?

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। अत्यन्त दुष्ट स्वभावके जो पुरुष अपनी सती-साध्वी निर्दोष पत्नियोंको मारते हैं, उन्हें छोड़ देनेकी तथा उन्हें ठीक करनेके लिये दूसरी स्त्री घरमें लाकर रखनेकी धमकी देते हैं, पर-स्त्रीके पास जानेसे रोकने तथा समझानेपर अत्यन्त अनुचित ढंगसे डाँटते-फटकारते एवं अपमान करते हैं, वे मूर्ख पुरुष अपने ही हाथों अपने सिरपर प्रहार कर रहे हैं। अपने ही गिरकर जलनेके लिये भीषण नरकाग्निको प्रज्वलित कर रहे हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वे महापाप कर रहे हैं और उसका भयानक परिणाम, भगवत्कृपासे कोई प्रायश्चित्त नहीं हो गया तो, उन्हें अवश्य ही भोगना पड़ेगा; परन्तु पतिव्रता पत्नी पतिको ऐसा दुःखद परिणाम भोगते देखकर सुखी थोड़े ही होगी।

बहुत दिन पहलेकी बात है; किसी सज्जनने महात्मा गाँधीजीसे पूछा था कि 'निर्दोष सीताको वनमें अकेली छुड़वा देनेवाले रामको, साध्वी द्रौपदीको जुएके दावपर लगा देनेवाले युधिष्ठिरको और सती दमयन्तीको जंगलमें अर्धवस्त्रा सोयी छोड़कर चल देनेवाले नलको मनुष्य समझा जाय या राक्षस?' इसपर महात्माजीने उत्तर दिया था कि 'इसका निर्णय तो सीता, द्रौपदी और दमयन्ती ही कर सकती हैं और उन्होंने क्या निर्णय किया तथा अपने-अपने पतिको क्या समझा—यह उनके आचरणोंसे स्पष्ट है।'

ठीक स्मरण नहीं है, प्रश्नकर्ताके और महात्माजीके शब्द

क्या थे। पर जहाँतक स्मरण है, भाव यही था। ऐसी स्थितिमें पत्नीके साथ अनवरत दुष्टताका व्यवहार करनेवाले पतिको क्या समझना चाहिये, इसका यथार्थ निर्णय तो उसकी पत्नी ही करेगी। परन्तु यह निर्विवाद है कि उसका पति अपराधी है और दण्डका पात्र है।

प्रतिदिन असहाय होकर चुपचाप झिड़कियाँ, गालियाँ, थप्पड़ और घूँसे सहकर पतिव्रता बने रहनेका उपदेश देना तो सहज है; परन्तु ऐसी परिस्थितिमें कितनी और कैसी शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणा होती है तथा मनकी उस समय क्या दशा होती है—इसका अनुभव तो भुक्त-भोगीको ही हो सकता है। कलम चलानेवाला कोई इसपर क्या लिखे; परन्तु ऐसी स्त्रीको कम-से-कम इतना तो अवश्य करना चाहिये कि वह ऐसे पतिसे अलग अपने मैकेमें अथवा अन्य किसी सुरक्षित स्थानमें रहे और कानूनी कार्रवाई करके निर्वाहका खर्च पतिसे वसूल करे।

वस्तुतः हिन्दू नारीकी शोभा और उसका गौरव तो इसमें है कि वह अपने पवित्र सतीत्वके तेजसे पतिके दुराचारी तथा अत्याचारी स्वभावको बदल दे और उसके जीवनको पवित्र बना दे। यमराजको जीतनेवाली पतिव्रता चाहें तो भगवत्कृपाके बलपर क्या नहीं कर सकतीं। ऐसा होना असम्भव नहीं है कठिन तपःसाध्य अवश्य है।

अब ऐसे पति महाशयोंसे यह कहना है कि वे अपनी इस दुर्नीतिको नहीं छोड़ेंगे तो अपना तथा हिन्दूजातिका भी बड़ा अकल्याण करेंगे। स्त्रियोंमें भी चेतन आत्मा है। उनको भी शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा होती है। वे पत्थरकी तो हैं ही नहीं जो आपकी डाँट-मारको सहती रहें और बदलेमें

कुछ भी न करें। आपलोगोंको अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिये और सती-साध्वी निर्दोष पत्नियोंको सतानेसे बाज आना चाहिये। इसीमें आपका कल्याण है।

(८६)

पतिव्रता

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

जो स्त्री—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

—इस आदर्शके अनुसार कभी मनसे भी पर-पुरुषका चिन्तन नहीं करती, अपने पतिको ही परमेश्वर मानकर सदा उसीसे प्रेम रखती है, उसीके सुखमें सुख और उसीके दुःखमें दुःख मानती है। निरन्तर पतिकी सेवासे पतिको सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करती है। जो अपनेको पतिपर न्योछावर करके उसके साथ एक प्राण एक आत्मा हो चुकी है। पतिके सोनेके बाद सोती और उठनेसे पहले ही जागती है। पतिके गुरुजनोंका पवित्र मनसे स्वागत-सत्कार-सेवा करती है, वह स्त्री सती या पतिव्रता कहलाती है।

इस प्रकार पतिव्रतधर्मका अधिक समयतक पालन करनेपर नारीमें अपूर्व शक्ति आ जाती है, फिर तो देवता भी उससे डरते हैं। कोई कामी पुरुष उससे बलात्कार करने जाकर जीवित नहीं रह सकता। पतिव्रता एक अग्नि है, जहाँ पापी तिनकेके समान भस्म हो जाते हैं। ऐसी स्त्री सिद्ध पतिव्रता मानी जाती है। जो सिद्ध नहीं, साधन-पथपर चल रही है, वह भी किसी पापीके बलात्कारसे अशुद्ध नहीं होती। यदि वह अपने मनमें पापकी वासना जरा भी न आने दे तो उसके शरीरको कोई पापी बलपूर्वक स्पर्श कर दे तो भी वह वास्तवमें 'असती' नहीं मानी जाती। वह शास्त्रीय प्रायश्चित्त

करके अपनी दैहिक अशुद्धिको दूर करके फिर पूर्ववत् शुद्ध हो जाती है।

सतीके सतीत्वको बलपूर्वक उसकी इच्छाके विपरीत नष्ट करनेवाला पुरुष कोटि कल्पोंतक रौरव नरकमें पड़ता है, ऐसा सन्तोंका वचन है।

स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये संसारसे पार होनेका मार्ग है—पापसे बचते हुए भगवान्का भजन करना। जो जिस वर्णमें है, उसके अनुसार अपने धर्मका पालन करते हुए सब प्रकारकी बुराइयोंसे दूर रहे तथा भवभयहारी भगवान्के चरणोंका निरन्तर चिन्तन करता रहे। भगवान्के शरण होकर उनकी ही इच्छासे उन्हींके लिये जीवन धारण करे। वही करे जो भगवान्को प्रिय हो। भगवान्को क्या प्रिय है—यह शास्त्र बतलाते हैं; क्योंकि शास्त्र ही भगवान्के आदेश हैं। शास्त्रमें जो न करनेयोग्य कहा हो उसे न करना। जो कर्तव्य बताया गया हो, वही करना यही प्रत्येक स्त्री-पुरुषका धर्म है। इसीसे वे संसार-समुद्रके पार जा सकते हैं। शेष सब भगवान्की दया।

(८७)

पतिका धर्म

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने जो बातें लिखीं, वे कुछ अंशोंमें सत्य हैं; परन्तु मनुष्यको विचार करना चाहिये अपने धर्मपर। जो अपने धर्मको नहीं देखता, स्वयं धर्मपर आरूढ़ नहीं रहना चाहता और दूसरेको धर्मपर आरूढ़ न देखकर झल्लाता है, उसकी झल्लाहटसे कोई अच्छा फल नहीं होता। आप चाहते हैं नारियाँ सीता-सावित्री क्यों नहीं बनतीं; पर आप यह क्यों नहीं सोचते कि पुरुष श्रीरामचन्द्र और सत्यवान् क्यों नहीं बनते। स्त्रियाँ अपने धर्मका पालन करें यह बहुत आवश्यक है, परन्तु पुरुषोंके लिये भी तो धर्मपालन कम आवश्यक नहीं है। मेरे पास एक बड़ा करुण पत्र आया है। एक बहिन लिखती हैं 'मेरे स्वामी मुझे गालियाँ बकते हैं, मारते हैं, न मालूम क्या-क्या करते हैं; यहाँतक कि मुझसे वेश्यावृत्ति करवाना चाहते हैं। बताइये मैं क्या करूँ।' इस बहिनको क्या उपदेश दिया जाय? ऐसे पतिकी आज्ञा माननी चाहिये या उसका बहिष्कार करना चाहिये? एक विधवा बहिन लिखती है कि 'मेरे देवरने मुझे फुसलाकर मुझसे सादे कागजपर सही करवा ली और अब वह मेरी न्यायोचित सम्पत्तिको हड़पना चाहता है। मैं क्या करूँ।' यह तो नमूना है। ऐसी घटनाएँ कितनी होती होंगी। पुरुषोंका अत्याचार बेहद बढ़ गया है। आप अपने पत्रमें केवल पत्नीकी शिकायत-ही-शिकायत लिखते हैं; परन्तु आपके पत्रको पढ़नेसे पता लगता है कि उस बेचारीका यदि कोई दोष है तो यही है, वह निर्दोष है—उसे छल-कपट नहीं आता। दोष तो सारा आपका है जो आप उसके सामने परमात्मा बनकर बैठते हैं और उसकी न्यायसंगत

सम्मतिके विरुद्ध उससे अपनी पूजा करवाना और अनुचित बातोंमें उसका सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं। आपको क्या हक है, उससे आप गन्दा गाना गानेको कहें और वह न गाये तो आप उसे पतिव्रता न समझें? आपको क्या हक है, आप उसे शराब पिलाकर सिनेमामें ले जाना चाहें और वह हाथ जोड़कर इसके लिये क्षमा माँगे तो आप उस देवीपर नाराज होकर उसे सतीधर्मसे गिरी हुई करार दें और मेरा समर्थन माँगें? पतिको परमेश्वर समझकर उसकी सेवा करे, यह स्त्रीका धर्म है। पतिका धर्म नहीं कि अपनेको परमेश्वर बताकर उससे कहे कि तुम मुझे उचित-अनुचित जैसे भी मैं कहूँ, पूजो। यह तो किसीके धर्मसे अनुचित लाभ उठाना है। मेरी आपको सम्मति है कि आप उसकी नेक सलाहको मानिये। उसकी सलाह—जो कुछ आप लिखते हैं—आपके लिये बड़ी कल्याणकारिणी है। वह आपको शराब छोड़ने, तम्बाकूका त्याग करने, सिनेमा न देखने और झूठ न बोलनेकी सलाह देती है तो कौन-सा बुरा कर्म करती है? आप कहते हैं 'उसकी बात तो ठीक है; परन्तु वह मेरी स्त्री होकर मुझको उपदेश देनेका पाप करती है—यह मैं कैसे बरदाश्त करूँ।' वाह! धन्य है आपकी समझको। स्त्री सहधर्मिणी है, वह आपकी सच्ची हितैषिणी है, वह प्रतिपदपर आपका मंगल चाहती है। उसके सिवा सत्-परामर्श देनेका सबसे अधिक अधिकार और है ही किसको? आप उसकी सलाह मानिये और भगवान्‌के कृतज्ञ होइये कि आपको ऐसी सुशीला सद्‌गुणवती पत्नी प्राप्त हुई है। आप अपने सौभाग्यपर गर्व कीजिये और अपनी पत्नीका परम प्रेमके साथ आदर कीजिये। उसे कभी कड़े शब्द न कहिये। न उसका जी दुखाइये। उसे अपना मित्र मानिये और भरसक सुख पहुँचानेकी चेष्टा कीजिये। इसीमें आपका कल्याण है।

(८८)

विधवाएँ अपने धर्मकी रक्षा करें

एक उच्च हिन्दूकुलकी विधवा महिला हैं। वे लिखती हैं—'भगवान्‌ने मेरे जीवनका सहारा मुझसे हमेशाके लिये अलग कर दिया है—......मैंने पूर्व-जन्ममें कौन-सा पाप किया था, जिसका दुःख मुझे देखना पड़ रहा है? किन्तु इतनेपर भी मेरा विचार है कि यह दुनिया क्षणभंगुर है, जिन्दगीका कोई भरोसा नहीं, शेष जीवन भगवान्‌के भजनमें व्यतीत करूँगी, परन्तु समाज मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मेरी उम्र २० वर्षकी है, एक लड़का दो सालका है। इसपर भी समाज मेरा पुनर्विवाह करनेपर तुला हुआ है तथा मुझे हर प्रकारकी बातसे पथभ्रष्ट किया जा रहा है। मुझको फिसलानेके लिये चिकनी मिट्टी दिखायी जा रही है। मैं कबतक अपने मनको दृढ़ रख सकूँगी? क्या पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत है? इसके विषयमें 'कल्याण' में दो शब्द देंगे, जिससे दिलमें शान्ति हो।'

यह उनके पत्रके एक अंशका उद्धरण है। वे उच्च कुलकी महिला हैं। उनके उच्च विचार हैं। सीता और सावित्रीकी परम्परामें उनका जन्म हुआ है। उनमें भी सतीत्वके वे संस्कार वर्तमान हैं। वे नहीं चाहतीं, अब पुनर्विवाह हो। वे यह भी जानती हैं कि जीवन क्षणभंगुर है, इसका क्षणभर भी भरोसा नहीं। फिर इसके लिये पापपंकमें डूबकर अपनेको नरकमें क्यों ढकेला जाय? प्रत्येक नारीको अपने वैधव्यके लिये दुःख होता है। उनको भी दुःख है। किन्तु उस दुःखके आवेगमें वे अपने पवित्र धर्म एवं कर्तव्यको भुलाना नहीं

चाहतीं। वे शेष जीवन भगवान्‌के भजनमें बिताना चाहती हैं। भगवान्‌का भजन सभी पापोंका एकमात्र अमोघ प्रायश्चित्त है। इससे तन-मन सभी पवित्र होते हैं और भविष्य मंगलमय हो जाता है।

मैं उक्त देवीसे विनयपूर्वक यही अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे अपने धर्मपर दृढ़ रहें। आज जो दुःख प्राप्त हुआ है, वह अपने ही पूर्व-कर्मका फल है; अतः दुःखसे छूटने और भविष्यमें कल्याण प्राप्त करनेके लिये सत्कर्म एवं श्रीभगवान्‌का सहारा लेना ही उनके लिये सर्वथा उचित है।

समाजके जो लोग उन्हें पथभ्रष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं, वे पाप करते हैं। वे अपनी वासना या स्वार्थकी पूर्तिके लिये उनको तो नरकमें ढकेलना चाहते ही हैं, उनके कुलीन बालकका भी भविष्य नष्ट करना चाहते हैं। ऐसे प्राणी अपने तो नरकमें डूबते ही हैं, अपने साथ दूसरोंको भी डुबोते हैं।

उन्होंने शास्त्रकी सम्मति जाननी चाही है। शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा है, उनके आदेशका पालन करनेसे भगवान् सन्तुष्ट होते हैं और मनुष्यका परम हित होता है। शास्त्रके आदेश लोक-परलोक दोनोंको सुधारनेवाले होते हैं। वर्तमानमें सुख हो और भविष्य भी मंगलमय बना रहे, यह शास्त्रका उद्देश्य है। वही शास्त्र विधवाको विवाहसे रोकता है। शास्त्रकी दृष्टिसे विधवाका पुनर्विवाह महापाप है (देखिये मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ६४ से ६८ तक)।

आजकलके सुधारक शास्त्रकारोंको निष्ठुर बताते हैं। परन्तु शास्त्रकार कितने सदय हैं, इसका अनुभव उनको है ही नहीं। एक आदमी भूखसे अत्यन्त पीड़ित है, उसके सामने मधुर पकवान रखा हुआ है, वह उसपर टूट पड़ना चाहता

है। एक सज्जन उस पकवानके पास बैठे हैं और उस भूखेसे कहते हैं, इसे न खाओ। इसे खा लेनेपर सुखके स्थानपर महान् दुःख होगा। वह उस मनुष्यको निष्ठुर बताकर भोजनपर टूट पड़ता है और सब चट कर जाता है। सोचता है, इतने मधुर भोजनको यह दुःखकारक बता रहा था। कितना झूठा है!

परन्तु वह झूठा नहीं था; वह जानता था इस भोजनमें घातक विष है। थोड़ी देरमें उसका असर हुआ। वह आदमी जो मौजसे माल उड़ाता था, मृत्युकी यन्त्रणासे छटपटाने लगा।

यही दशा वर्तमान विषयभोगकी सुविधाके लिये शास्त्राज्ञाके विपरीत चलनेवालोंकी होती है। पुनर्विवाहसे विधवाको वही सुख मिलता है, जो विषमिश्रित भोजन करनेवाले भूखे मनुष्यको मिला था। फिर असीम यन्त्रणा! अपार दुःखका सामना करना पड़ता है। अतः अपना परम कल्याण चाहनेवाली प्रत्येक विधवाको पुनर्विवाहका विचार मनमें न लाकर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक भगवद्भजनमें संलग्न रहना चाहिये।

जिस विधवाकी गोदमें बालक है, उसे उस बालकके भविष्यकी भी रक्षा करनी है। उच्च कुलकी विधवा क्षणिक आवेशमें किसी मनचले युवकसे विवाह कर ले तो उसके पुत्रकी क्या दशा होगी? कौन उसे आश्रय देगा? जब वह बड़ा होगा, समाजमें आदरणीय व्यक्ति बनेगा, तब उसकी माताका कलंक उसे सब प्रकारके सम्मानसे वंचित कर देगा।

अतः समाजके श्रेष्ठ पुरुषोंको चाहिये कि वे विधवाओंके धर्मरक्षणमें सहयोग दें, उन्हें पाप-पंकमें न घसीटें। विधवा भी अपने धर्ममें दृढ़ रहे। भगवान् मंगल करेंगे। शेष प्रभुकी दया।

(८९)

साध्वी पत्नीका त्याग बड़ा पाप है

श्रीगोयन्दकाजीके नाम खूँटीके एक भाईका पत्र आया है। पत्र-लेखकने अपना नाम नहीं लिखा है। वे लिखते हैं कि—"विवाहसे पहले मैंने माताजीसे कहा था कि मैं विवाह नहीं करूँगा। इसपर पिताजीने कहा कि—'तुम्हारी यदि विवाहकी इच्छा नहीं है तो वृन्दावन जाकर भजन करो, जिससे मुझे तुम्हारे विवाहके लिये कर्ज भी नहीं करना पड़ेगा, तुम्हारी विवाह न करनेकी इच्छा पूरी हो जायगी और हमलोगोंको लड़कीवालोंसे यह कहनेका बहाना मिल जायगा कि लड़का भाग गया। हमलोग लाचार हैं।' इसपर मैंने उनसे कहा कि 'आप अपनी ओरसे काम बन्द न करें। लड़कीवाला आप ही मने कर देगा।' मैंने यह बात एक प्रतिष्ठित पण्डितके भरोसे कह दी। पर ऐसा नहीं हुआ और मेरा विवाह गत वर्ष हो गया। मेरी पत्नी सरल, साध्वी, शीलवती और भगवत्सेवामें दृढ़ प्रेम रखनेवाली है। वह मेरी सेवा करना चाहती है। मेरे गुरुजन मुझे सिर्फ उससे बोलने और सेवा स्वीकार कर लेनेको कहते हैं। मैं 'हाँ' भर लेता हूँ पर ऐसा मुझसे होता नहीं। मेरे मनमें आता है कि मुझे चाहे नरक क्यों न भोगना पड़े, मैं अपनी जिद्द नहीं छोड़ूँगा, स्त्रीकी सेवा स्वीकार न करूँगा, न उससे बोलूँगा। मैं उसे त्याग देना चाहता हूँ और इसपर आपकी सम्मति चाहता हूँ।"

इस विचारमें सिवा मिथ्या हठ, प्रमाद एवं बेसमझीके और कुछ भी नहीं है। विवाह न करना था तो पहले ही दृढ़ रहते, पिताकी बात मानकर स्पष्ट कह देते और भजनमें

लगते। बिना इच्छाके किसीका विवाह कौन कर सकता है? इच्छासे विवाह किया, पत्नी बेचारी सरलहृदया, साध्वी तथा सेवापरायणा भी है, पर आप उसका त्याग करना चाहते हैं हठवश। यह हमारी समझसे तो एक मूर्खतापूर्ण पाप है। दृढ़ वैराग्यवान् पुरुषोंके लिये भी ऐसी स्थितिमें विचार करना आवश्यक हो जाता है। फिर आपकी तो स्थिति ही दूसरी है। हमारा आपसे बलपूर्वक अनुरोध है कि आप इस प्रकारके पापभरे विचारोंको छोड़कर साध्वी पत्नीका आदर करें, उससे प्रेम करें और उसे निर्दोष सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें।

आपका मन शीलधर्म पालन करनेका अथवा अधिक-से-अधिक संयम रखनेका हो तो पति-पत्नी दोनों सोच-समझकर अपने लिये संयमका नियम बना लें और उसीके अनुसार जीवनमें व्यवहार करें; परन्तु त्यागकी तो कल्पना ही छोड़ दें। यदि आप हठवश साध्वी पत्नीका त्याग करनेकी बात सोचेंगे और वैसा करने जायँगे तो आपके लिये यह बहुत बड़ी मूर्खता और बड़े पापका कार्य होगा, और पीछे आपको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा! आशा है आप हमारी बात अवश्य मानेंगे और हमें तुरन्त सूचना देंगे कि आपने हमारी सम्मति स्वीकार करके पत्नीके त्यागका विचार सर्वथा छोड़ दिया है और उनसे सप्रेम मिलने-बोलने लगे हैं।

(९०)

हिन्दू विधवा बहिनके साथ कैसा बर्ताव करें ?

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था, उत्तरमें विलम्बके लिये क्षमा करेंगे। आप लिखते हैं 'मैं जातिका मोहमडन हूँ , किन्तु मेरे हृदयमें सदा दयाका स्रोत बहता रहता है। मनुष्यमात्रकी सेवा करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।' यह बहुत ही अच्छी बात है। आपका यह गुण आपके अन्य बन्धुओंके लिये भी अनुकरणीय है। वास्तवमें दया तो मनुष्यमात्रका गुण होना चाहिये। हिन्दू हो या मुसलमान, निर्दयता सभीके लिये कलंककी बात है। मनुष्य ही क्यों, सम्पूर्ण जीवमात्रकी सेवाको परम कर्तव्य समझना चाहिये। चींटीसे लेकर मनुष्यतक सभी प्राणी भगवान्‌के अंश हैं; अतः भगवद्‌बुद्धिसे उनकी सेवा, उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना ही सच्ची भगवत्‌-सेवा है।

आपने इसी भावसे 'एक हिन्दू विधवा बहिनकी भलाईके लिये अपना तन-मन-धन लगा रखा है', यह बड़े सौभाग्यकी बात है। निराश्रयको आश्रय देना, असहाय और अनाथ विधवाओंकी रक्षा करना सबके लिये महान् पुण्यकार्य हैं; परन्तु इसके लिये शुद्ध नीयत और हृदयकी पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य बहुधा आदर्शके नामपर मोहका शिकार हो जाता है। विशुद्ध प्रेमके धोखेमें आकर आसक्ति और वासनाके अतल गर्तमें आकण्ठ मग्न हो जाता है। यह स्थिति बड़ी भयंकर है। इससे पग-पगपर सावधान रहना चाहिये। आपने उन विधवा बहिनकी युवावस्था, कटु-स्वभाव और अनुचित प्रवृत्तिका जो चित्र उपस्थित किया है, उसका आप-जैसे युवकके मनपर विपरीत प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं है। तथा उनके और आपके एकान्त मिलनको देखकर जो वहाँके लोग सन्देह करते हैं,

यह भी अस्वाभाविक नहीं है। इस परिस्थितिमें भी आपकी भावना कहाँतक पवित्र है, इसका ज्ञान या तो आपको होगा या आपके हृदयमें बैठे हुए अन्तर्यामी भगवान्‌को। दूसरे लोग तो आपके और उनके बाह्य आचार और विचारको देखकर ही कुछ धारणा बनाते होंगे। यदि आप सच्चे हैं तो इन बातोंसे आपको घबराना या भयभीत होना नहीं चाहिये। विरोधकी आँचमें आप अपने खरेपन और खोटेपनकी परख कर सकते हैं। आपमें कोई दोष नहीं है तो विरोधियोंको एक-न-एक दिन अपनी भूल अवश्य मालूम होगी और वे आपका आदर भी करेंगे। न भी मालूम होगी, तो भी आपकी यथार्थमें कोई हानि नहीं होगी।

'निन्दनीय कार्यसे डरना चाहिये, न कि निन्दासे'—आपके इस कथनका मैं समर्थन करता हूँ। आप निन्दासे बचनेके लिये उन बहिनको धोखा नहीं देना चाहते, यह विचार उत्तम है। यदि आप दोनोंके हृदयमें एक-दूसरेके प्रति भाई-बहिनका ही भाव है तो समाजके लिये सन्देह और विरोधका कोई कारण नहीं रह जाता। यह आपकी ही दुर्बलता है कि समाज आपके इस वास्तविक सम्बन्धका अनुभव नहीं कर पाता। मेरी रायमें आपको नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देना और उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१—कर्तव्य या सेवाके भावसे, कोई स्वार्थ या कामना मनमें न रखकर आप उन बहिनकी सब प्रकारसे उचित सहायता करते हुए भी उनसे मिलना-जुलना बन्द कर दें। यदि कभी कार्यवश मिलना आवश्यक हो तो दूसरोंके सामने उनसे भेंट करें। भाई-बहिनकी भेंट एकान्तमें या लुक-छिपकर क्यों हो?

२—वहाँ हिन्दू-समाजमें जो कोई वृद्ध, सदाचारी तथा उदार एवं दयालु पुरुष हों, उनसे प्रार्थना करके उन बहिनकी देखभालका कार्य उन्हें सौंपें। अच्छे घरकी सती-साध्वी स्त्रियोंसे उन बहिनका मेल-जोल बढ़े और वे उनके संगसे लाभ उठावें।

३—उनके धार्मिक आचार-विचार तथा धार्मिक भावको प्रोत्साहन देनेके लिये आप अपने लिखित विचार उनके सामने रखें, जिसे वे स्वयं भी पढ़ें और दूसरोंको भी पढ़ा सकें। इसके अलावा उन्हें गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकें, 'कल्याण' तथा सतियोंके जीवन-चरित्र पढ़नेको दें। वे प्रतिदिन तुलसीकृत रामायणका पाठ और भगवान्‌के नामोंका जप किया करें तो बड़ा लाभ होगा। इससे उन्हें शान्ति मिलेगी, मनसे बुरे विचार निकल जायँगे और आपकी ओरसे प्रवृत्ति हट जायगी।

४—उन बहिनसे मेरा यही अनुरोध है कि अब भी वे अपनेको सुधारें। मनुष्यका शरीर बार-बार नहीं मिलता। इसको पाकर जो अपने कल्याणके लिये यत्न नहीं करता, वह मूढ़ और भाग्यहीन है। पूर्वजन्ममें न जाने कौन-सा अपराध हुआ था, जिससे उन्हें इस जन्ममें किशोरावास्थामें ही वैधव्यका कष्ट भोगना पड़ा। अब और भी पाप बढ़नेपर उन्हें किन नरकोंमें सड़ना पड़ेगा, यह कहा नहीं जा सकता। जो विधवा स्त्री संयम छोड़कर भोग-विलासमें आसक्त होती है और मर्यादाका उल्लंघन करके अपने जीवनको कलंकित करती है, वह अपने ही हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारती है। उनको अब भी चेतना चाहिये, धर्म और सदाचारकी रक्षा करनी चाहिये। वे पापपंकमें डूबकर अपनेको धधकती हुई नरकाग्निमें न झोंकें। पिछले पापोंके लिये रोकर सच्चे हृदयसे भगवान्‌से क्षमा माँगें। याद रखें—वे उन हिन्दू-देवियोंकी सन्तान हैं, जो सतीत्वकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते प्रज्वलित अग्निमें कूद पड़ती थीं। अतः उन्हींके पद-चिह्नोंपर चलकर भगवान्‌का भजन करते हुए अपने जन्म और जीवनको सफल करें।

(९१)

प्रेमसे ही सुधार हो सकता है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार जाने। आपका लिखना यदि सत्य है और उसके सच्चे सबूत आपके पास हैं, तब तो वे भाई लोग अवश्य ही बड़े दोषी हैं और इस हालतमें उनके साथ सब प्रकारका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। उनको कभी घरमें नहीं आने देना चाहिये। लड़ाई-झगड़ा न करके शान्तभावसे ही ऐसा निश्चय कर लेना उत्तम है। लड़ाई-झगड़ेमें कटुता बढ़ती है, बदनामी फैलती है और अपने मान-सम्मानको भी धक्का पहुँचता ही है। पत्नीको पिताके घर न रखकर अपने घर ही रखना चाहिये और अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसके हृदयमें परिवर्तन हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। दोष सभीसे होते हैं। भगवान् ही बचाते हैं। यदि हम किसीको दोषी साबित करके उसके दोषकी घोषणा कर देंगे तो इसमें कोई लाभ न होगा। वह पक्का अपराधी बन जायगा। इसके स्थानपर यदि हम उससे प्रेम करेंगे और अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसके हृदयको जीत लेंगे तो सम्भव है उसका जीवन सुधर जाय एवं वह पवित्र आचरण करने लगे। इसलिये दोषीके दोषसे तो घृणा करनी चाहिये, पर दोषीसे नहीं। उसे दोषमुक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैसे किसी भयानक रोगमें रोगीके रोगनाशके लिये निपुण चिकित्सक उसे कुचला, भिलावा, संखिया, अफीम और सर्पविष आदि विष भी दवाके रूपमें देते हैं—पर देते उतनी ही मात्रामें तथा वैसे ही ढंगसे हैं जिससे रोगीपर विषका असर उतना ही हो, जितना उसके

रोगनाशके लिये आवश्यक है। इसी प्रकार कभी-कभी हित-कामनासे कटु व्यवहार भी करना पड़े तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु उस समय भी मनमें प्रेम तथा हितके भाव ही होने चाहिये। द्वेष तथा दुःख पहुँचाकर सुखी होनेके नहीं। ऐसा व्यवहार वस्तुतः वही कर सकता है जो राग-द्वेषसे छूटा हुआ हो। राग-द्वेष होनेपर साधारणतः ऐसे व्यवहारमें भूल हो जाया करती है। इसलिये जहाँतक सम्भव हो, व्यवहार मधुर ही करना चाहिये। साथ ही सावधानी रखनी चाहिये, जिससे भविष्यमें इस प्रकारके दोष बननेका अवसर ही न आवे। ऐसे पाप एकान्त पानेपर हुआ करते हैं। अतः एकान्तसे बचना चाहिये तथा पुरुष-संसर्ग न हो, इसके लिये सावधान रहना चाहिये। शास्त्रोंमें यह स्पष्ट आदेश है—

तप्तांगारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
तस्माद् वह्निं घृतं चैव नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

(चाणक्य०)

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु०)

'स्त्री जलती हुई आगके समान है और पुरुष घृतसे भरे घड़ेके समान। बुद्धिमान् पुरुष घी और अग्निरूप स्त्री-पुरुषको कभी एक स्थानपर न रखे।'

'माता, बहिन और पुत्रीके साथ भी एकान्तमें एक साथ नहीं बैठना चाहिये। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान्को भी विषयकी ओर खींच लेती हैं।'

आप भगवान् श्रीकृष्णके विग्रहकी पूजा करते हैं। दैवी सम्पत्तिके गुणोंको धारण करना चाहते हैं और काम-क्रोधपर

विजय प्राप्त करना चाहते हैं—सो बड़े आनन्दकी बात है। विपरीत परिस्थितिमें ही इसकी परीक्षा होती है। आप श्रीमद्भगवद्गीताका अर्थ समझकर पाठ करते रहिये। भगवान्का नाम-जप तथा प्रार्थना करते रहिये। आपकी पत्नीको सद्बुद्धि मिले, इसके लिये भी भगवान्से प्रार्थना कीजिये। पत्नीको मैकेमें न रखकर अपने घरपर रखिये और उसके साथ प्रेमयुक्त यथायोग्य व्यवहार करके उसका सुधार कीजिये। आपके घर रहनेपर वह मांस खाना आप ही छोड़ देगी।

घर छोड़कर एकान्तवास करनेमें लाभ नहीं होगा। घरमें ही रहकर अपनी साधनाकी रक्षा करते हुए भगवान्की कृपाके बलपर घरका सुधार कीजिये। भगवान्की कृपासे कुछ भी असम्भव नहीं है, इसपर विश्वास कीजिये। साधुवृत्ति मनमें रखिये और उसे बढ़ाइये। उसको बाहर प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता है। आपके बच्चे हैं, उनके लिये भी आपका घरमें रहना आवश्यक है।

संसारका यही स्वरूप है। इस घरके तो यही तमाशे हैं। तमाशोंकी भाँति इन्हें देखते रहिये और इस तमाशेमें जहाँ अपने स्वाँगके अनुसार जो खेल करना हो, उसे सावधानीसे पूरा करते रहिये—भगवान्की आज्ञा मानकर उन्हें सदा स्मरण करते हुए, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये ही। भगवान्के इस जगन्नाटकमें हम सभी पात्र हैं और सभीको ईमानदारीके साथ अपने-अपने जिम्मेका अभिनय सुचारु रूपसे करना चाहिये—यही निष्काम कर्मयोग भी है।

(१२)

साधु-संन्यासियोंका स्त्रियोंके साथ कैसा व्यवहार हो?

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि "श्रीस्वामीजी.....तथा उनके शिष्य स्वामीजी.....ने कुमारी, सधवा, विधवा, युवती, वृद्धा—असंख्य स्त्रियोंको चेली बनाया है और वे उन्हें ईश्वरसे भी बढ़कर गुरुको समझनेका उपदेश करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी गुरुसेवा की थी, गुरुके चरणोंको दबाया था, उनकी पूजा की थी। अतः उनकी कृपासे ही वे राक्षसोंका संहार कर सके थे। इसलिये गुरुसेवा ही सार और मोक्ष देनेवाली है।' ऐसा कहते हैं। स्त्रियोंसे चरण धुलवाकर उन्हें चरणामृत पान कराना, उनसे पगचम्पी कराना, हवा कराना, अपनी पूजा-आरती कराना आदि कराते हैं। और माता-पिता, भाई-बन्धु, सास-ससुर, यहाँतक कि पतितकके व्यवहारको झूठा बताकर गृहस्थियोंसे अच्छे-अच्छे माल हड़प करते हैं। कहते हैं सास-ससुर और पतिकी सेवा करना निस्सार है। गुरुकी सेवा ही मोक्षका साधन है। इस प्रकार घर-घरमें विद्रोह उत्पन्न करके वे उनसे अपनी सेवा कराते हैं।" इतना लिखकर आप पूछते हैं कि क्या ऐसे साधनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है? क्या संन्यासियोंका गृहस्थ स्त्रियोंके साथ ऐसा सम्बन्ध होना चाहिये? इन स्वामीजीकी ये बातें कहाँतक ठीक है? क्या संन्यासियोंको स्त्रियोंको चेली बनाने, उन्हें चरणामृत देने, उनसे पैर दबवाने, एकान्तमें मिलने, अन्य प्रकारसे सेवा कराने तथा पूजा-आरती उतरवानेका अधिकार है और ऐसा करनेसे क्या उन स्त्रियोंका कल्याण हो सकता है?'

इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि सच्चे गुरुकी महिमा ऐसा ही है। गुरुदेव जीवनके परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले हैं, इस कारण शिष्यके लिये वे भगवान्‌से भी बढ़कर हैं, परन्तु ऐसे गुरु विलक्षण ही होते हैं। आपने जिन स्वामीजीकी तथा उनके शिष्यकी बात लिखी है, वे कैसे हैं—इसका तो मुझको पता नहीं। परन्तु जहाँतक संन्यासधर्मका सम्बन्ध है, इनके आचरण सर्वथा विपरीत और शास्त्रविरुद्ध हैं। साथ ही दूसरोंके लिये बहुत बुरे आदर्शरूप हैं। मेरी समझमें उन माता-बहिनोंकी भी बहुत बड़ी भूल है, जो अपने भोले स्वभावके कारण इस प्रकारकी बातोंमें आकर अपना अकल्याण कर रही हैं! शास्त्रकी सम्मति तथा सत्पुरुषोंके आचरणोंके अनुसार न तो किसी भी स्त्रीको पर-पुरुषका स्पर्श करना चाहिये और न किसी संन्यासी—त्यागीको स्त्रीमात्रका स्पर्श करना चाहिये। ऐसा करना पाप तो है ही, पापको बढ़ानेवाला भी है। इससे मोक्षकी प्राप्ति तो दूर रही, नरकोंमें जाकर वहाँकी भीषण यन्त्रणासे छुटकारा पाना भी कठिन है। यह मनुष्यका मोह है कि विषयासक्तिवश दुराचार करते समय मनुष्यको उसके भयानक परिणामका ध्यान नहीं रहता। इसीसे वह इस प्रकारके निषिद्ध आचरण करता है। जो लोग जड शरीरको महत्त्व देकर जान-बूझकर अपने पैर पुजवाना, चरणामृत पिलाना, स्त्रियोंसे पैर दबवाना, एकान्तमें मिलना, पूजा-आरती उतरवाना आदि करते-कराते हैं, वे मोहग्रस्त और दयाके पात्र हैं। ऐसा करने-करानेमें दोनोंमेंसे किसीका कल्याण नहीं है। हाँ, एक ऐसी स्थिति भी होती है, जिसमें मीराँकी भाँति भगवत्प्रेमके विवश होकर घर-द्वार छोड़ दिया जाता है। भगवान् बुद्ध तथा चैतन्यदेवकी भाँति घरके लोगोंको रोते-बिलखते छोड़कर चले जाना पड़ता है; परन्तु वैसी

स्थिति सबकी नहीं होती। किसीको वैसा प्रेम एवं वैराग्य हो तो फिर किसी भी अन्य कर्तव्यका भार उसपर नहीं रहता। बीमारी, असमर्थता अथवा विशुद्ध वात्सल्य या स्नेहके कारण ऐसी स्थिति भी कहीं-कहीं होती है जहाँ पैर छुलाना, सेवा कराना आदि स्वीकार करना पड़ता है या ऐसी बाह्यज्ञानशून्य स्थिति होती है जिसमें न तो पैर पूजनेका पता रहता है और न सिरपर जूतियाँ लगनेका। पर ये सब असाधारण स्थितियाँ हैं। दूकान खोलकर स्त्रियोंको चेली बनाना, उनसे निषिद्ध सेवा कराना और एकान्तमें मिलना आदि तो प्रत्यक्ष अनाचार हैं और आजकल अध्यात्मके नामपर ये खूब चल रहे हैं! पर इनसे प्रायः सर्वत्र ही हानि होती है। ऐसे करानेवाले अधिकांश लोगोंकी नीयतमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोष रहता है। कुछ लोग सरलतासे भी ऐसा करते हैं; परन्तु अपना कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको इन दोषोंसे अवश्य बचना चाहिये और स्त्रियोंको तो इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये। साधु-महात्माओंमें श्रद्धा-भक्ति इतनी ही होनी चाहिये कि उन्हें सच्ची श्रद्धा तथा आदरपूर्वक भिक्षा करायी जाय। उनके शरीरकी स्थितिके अनुसार उनके आरामकी यथासाध्य और यथायोग्य निर्दोष शास्त्रसम्मत व्यवस्था की जाय। और उनके शास्त्रविहित उपदेशोंके अनुसार जीवन बनाया जाय। साधु-संन्यासियोंको धन देना, विलासकी सामग्री देना या जिनसे उनके मन-इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न होना सम्भव हो, ऐसी कोई भी क्रिया करना तो उन्हें सत्पथसे गिराना है और एक प्रकारसे पाप करना है। गृहस्थोंको यह बात खूब समझ रखनी चाहिये। विशेष भगवत्कृपा।

(१३)

संन्यासी और स्त्री

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। संन्यासके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका मेरा अधिकार नहीं है। सर्वत्यागी विद्वान् संन्यासी ही संन्यास-धर्मका निरूपण कर सकते हैं और असलमें वह होता है उनके आदर्श आचरणोंके द्वारा। तथापि जहाँतक मैंने देखा है शास्त्रोंमें कहीं भी ऐसी विधि नहीं पायी जाती कि 'संन्यासीको स्त्रियोंके साथ रहना, उनसे एकान्तमें मिलना या हँसना-बोलना चाहिये।' बल्कि ऐसे वचन मिलते हैं कि 'जिस घरमें कोई स्त्री अकेली हो, उस घरसे संन्यासी भिक्षा भी न ले।' स्त्रियोंको साथ रखना और उनसे हँसना-बोलना तो दूर रहा—पाषाण और काष्ठकी बनी हुई स्त्री-प्रतिमाको देखना और स्पर्श करना भी संन्यासीके लिये निषिद्ध है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके एक बड़े श्रद्धालु सदाचारी भक्त थे छोटे हरिदास। वे एक दिन माधवी नामकी एक वृद्धा भक्तमहिलासे महाप्रभुके लिये चावल माँग लाये। जब महाप्रभुको इस बातका पता लगा तो उन्होंने हरिदासको अपने आश्रमसे निकलवा दिया। हरिदासके प्रति महाप्रभुका बड़ा स्नेह था और सम्भवतः उस स्नेहकी प्रेरणासे ही उन्होंने हरिदासकी धर्मच्युतिको सहन न करके उसे इतना कड़ा दण्ड दिया। महाप्रभुका वियोग हरिदासके लिये असह्य था, इसलिये उन्होंने प्रयाग पहुँचकर त्रिवेणीकी धारमें अपनेको बहा दिया। महाप्रभु स्त्रीदर्शनतकका संन्यासीके लिये निषेध करते थे।

एकान्तमें स्त्री-पुरुषका साथ रहना अग्नि और घृतके साथ रखनेकी भाँति कभी खतरेसे खाली नहीं है। बड़े-बड़े त्यागी,

सदाचारी पुरुषोंका चित्त डोल जाता है, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। केवल गेरुआ धारण करनेसे ही किसीकी इन्द्रियाँ मर गयी हों, ऐसा नहीं माना जा सकता। अतएव संन्यासीको अपने स्वरूप और धर्मकी रक्षाके लिये विशेषरूपसे सावधान रहकर स्त्रीके प्रत्येक प्रकारके संसर्गसे अपनेको सदा बचाना चाहिये। और स्त्रियोंका भी यह कर्तव्य है कि वे संन्यासी वेश देखकर कभी यह न मान लें कि ये तो शुकदेव ही है। कमजोरियोंसे सर्वथा छूटे हुए महापुरुष तो कोई बिरले ही होते हैं। और जो ऐसे महापुरुष होते हैं, वे भी (लोकसंग्रहकी दृष्टिको लेकर ही सही) शास्त्रमर्यादाका त्याग करके कभी स्त्रियोंको साथ नहीं रखते। अतएव स्त्रियोंको किन्हीं भी संन्यासीके पास, चाहे वे कितने ही बड़े महात्मा माने जाते हों, न तो एकान्तमें जाना चाहिये, न उनके किसी भी अंगका—विशुद्ध भक्तिसे ही—स्पर्श करना चाहिये और उनसे हँसी-ठठोली तो भूलकर भी नहीं करनी चाहिये। जो संन्यासी हैं, उनको तो विशेष ध्यान रखना चाहिये। अपने संन्यासीके वेषकी और आश्रमकी रक्षा प्राणपणसे करनी चाहिये। यदि इतना भी नहीं करते बनता तो फिर संन्यास-ग्रहणकी ही क्या आवश्यकता थी। नास्तिकोंकी भाँति यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मायामय जगत्के मायामय कार्योंसे आत्माका कोई सरोकार नहीं, इसलिये हम कुछ भी करें, हमपर कोई बन्धन नहीं होगा। यह सत्य है कि आत्मा नित्य मुक्त है और बन्धनसे परे है; परन्तु जबतक अज्ञानका बन्धन वर्तमान है, तबतक मायामय कहनेमात्रसे कर्म-बन्धनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्मानुसार फल बाध्य होकर भोगना ही पड़ेगा और जबतक इन्द्रिय-भोगमें रसानुभूति होती है, चित्तमें भोगकी चाह और सिद्धि-असिद्धिमें सुख-दुःख होता है, इन्द्रिय-

भोगोंके लिये चोरी, छिपाव तथा असत्यका आचरण भी होता है, तबतक अज्ञानका बन्धन कट गया है, ऐसी बात मानना तो घोर अज्ञान है। जिनका अज्ञानका परदा फट जाता है, वे तो जान-बूझकर भोगासक्त कभी होते नहीं, शास्त्रविरुद्ध आचरण करते नहीं। और जो भोगासक्त होकर शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं वे अज्ञानसे मुक्त हुए नहीं। याद रखिये, अपने अज्ञानको स्वीकार करना बुरा नहीं है; बुरा तो है अज्ञानान्धकारमें पड़े होनेपर भी अपनेको ज्ञानस्वरूप मानना। यह और भी घोर अन्धकार है। आजकल प्राय: यही हो रहा है, इसीसे साधु-संन्यासियोंमें इतना अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार फैला है। ऐसे आचरणोंवाले साधु-संन्यासियोंके कारण धर्म और भगवान्‌के प्रति जनताकी अश्रद्धा बढ़ती है।

अतएव जनताकी भगवान् तथा परमार्थके मार्गमें श्रद्धा रहे, इसके लिये भी साधु-संन्यासियोंका—जो परमात्माके मूर्तिमान् स्वरूप माने जाते हैं, आचरण परम पवित्र और शास्त्रानुकूल आदर्श होना चाहिये। आपके पत्रमें लिखी सब बातोंका उल्लेख करना उचित नहीं मालूम हुआ; संक्षेपमें आपकी शंकाओंका उत्तरमात्र दे दिया है, इससे कोई लाभ उठा सकें तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा।—शेष भगवत्कृपा।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड	पुस्तक
820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)
050	पदरत्नाकर
049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन
058	अमृत-कण
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता
333	सुख-शान्तिका मार्ग
343	मधुर
056	मानव-जीवनका लक्ष्य
331	सुखी बननेके उपाय
334	व्यवहार और परमार्थ
514	दुःखमें भगवत्कृपा
386	सत्संग-सुधा
342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल
347	तुलसीदल
339	सत्संगके बिखरे मोती
349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति
350	साधकोंका सहारा
351	भगवच्चर्चा
352	पूर्ण समर्पण
353	लोक-परलोक-सुधार
354	आनन्दका स्वरूप

कोड	पुस्तक
355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
356	शान्ति कैसे मिले?
357	दुःख क्यों होते हैं ?
348	नैवेद्य
337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श
336	नारीशिक्षा
340	श्रीरामचिन्तन
338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन
345	भवरोगकी रामबाण दवा
346	सुखी बनो
341	प्रेमदर्शन
358	कल्याण-कुंज
359	भगवान्‌की पूजाके पुष्प
360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं
361	मानव-कल्याणके साधन
362	दिव्य सुखकी सरिता
363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ
364	परमार्थकी मन्दाकिनी
366	मानव-धर्म
526	महाभाव-कल्लोलिनी
367	दैनिक कल्याण-सूत्र
369	गोपीप्रेम

कोड	पुस्तक
368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष
370	श्रीभगवन्नाम
373	कल्याणकारी आचरण
374	साधन-पथ—सचित्र
375	वर्तमान शिक्षा
376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी
377	मनको वश करनेके कुछ उपाय
378	आनन्दकी लहरें
380	ब्रह्मचर्य

कोड	पुस्तक
381	दीन-दुःखियोंके प्रति कर्तव्य
379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य
382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन
344	उपनिषदोंके चौदह रत्न
371	राधा-माधव-रससुधा-(षोडशगीत) सटीक
384	विवाहमें दहेज—
809	दिव्य संदेश...........

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य
207	रामस्तवराज—(सटीक)
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र
231	रामरक्षास्तोत्रम्
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्
054	भजन-संग्रह
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
142	चेतावनी-पद-संग्रह
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह

कोड	पुस्तक
1214	मानस-स्तुति-संग्रह
1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
208	सीतारामभजन
221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)
225	गजेन्द्रमोक्ष
1505	भीष्मस्तवराज
699	गंगालहरी
1094	हनुमानचालीसा—भावार्थसहित
228	शिवचालीसा
232	श्रीरामगीता
851	दुर्गाचालीसा
236	साधकदैनन्दिनी